भारतीय संपादन-शास्त्र

लेखक—

मूलराज जैन, एम० ए०, एल एल० बी०

प्रिन्सिपल, श्री आत्मानन्द जैन कालिज, अम्बाला शहर

(Reprinted from the November 1942 issue of the Oriental College Magazine, Lahore)

प्रकाशक—

जैन विद्या भवन

कृष्णनगर, लाहौर

सं० १९९९

प्रस्तावना

इस वर्ष के जनवरी मास में जब पंजाब यूनिवर्सिटी ने मुझे "मेयो पटियाला रिसर्च स्कालरशिप" प्रदान किया, तो मुझे संस्कृतविभाग के अध्यक्ष (तथा अब ओरियंटल कालिज के प्रिन्सिपल) डा० लक्ष्मण स्वरूप के निरीक्षण में काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने मुझे 'पृथ्वीराज रासो' की उपलब्ध सामग्री के अवलोकन करने पर नियुक्त किया ताकि इससे रासो के प्राचीन पाठ का निर्माण किया जा सके, प्राचीन ग्रन्थों का संपादन भी अब एक सायंस बन गया है। इस के अपने सिद्धान्त हैं जिन को भली प्रकार समझे बिना सम्पादन में सफलता नहीं मिल सकती। डा० स्वरूप महोदय भारतीय ग्रन्थों के सम्पादन में अपार अनुभव रखते हैं। उन की कृपा से जब मुझे भी इस में कुछ गति होने लगी, तब डाक्टर महोदय ने मुझे आज्ञा की कि रासो की सामग्री के अवलोकन में जो कुछ अनुभव प्राप्त हुआ है उसे हिंदी में लेखबद्ध कर दो ताकि इस से संस्कृत और हिंदी के जानने वालों को भी सम्पादन कार्य में सहायता मिले। इस आज्ञा के फलस्वरूप यह लेख तय्यार किया गया है।

इस के लिखने में निम्नलिखित ग्रन्थों से सहायता ली गई है जिस के लिए मैं उन के लेखकों तथा प्रकाशकों का ऋणी हूं।

1 S. M. Katre Introduction to Indian Textual Criticism Bombay, 1941 यह संस्कृत ग्रन्थों के सम्पादन से सम्बन्ध रखने वाली अंगरेजी की पहली पुस्तक है।

2 F. W. Hall Companion to Classical Texts, Oxford, 1913 इस में ग्रीक और लैटिन ग्रन्थों के सम्पादन करने की विधि वर्णन की गई है, साथ ही सम्पादन के सामान्य नियम भी बड़ी विशद रीति से समझाए गए हैं।

3 V. S. Sukthankar Prolegomena to the critical edition of the Adiparvan of the Mahabharata, Poona, 1933 इसे भारतीय सम्पादन-शास्त्र की नींव समझना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों के सम्पादन-शास्त्रीय अनुभव का महाभारत के सम्पादन में प्रयोग किया गया है।

4 F. Edgerton Panchatantra Reconstructed 1924

5 L. Sarup The Nighantu and the Nirukta Oxford, 1920

6 गौरीशंकर हीराचंद ओझा—भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

अन्त में मैं डा० लक्ष्मण स्वरूप का हार्दिक धन्यवाद करता हूं जिन्होंने मुझे इस शास्त्र में प्रवेश कराया और इसे हिंदी में लेख-बद्ध करने पर उत्साहित किया। यह लेख प्रेस में भेजा ही था कि मैं श्री आत्मानन्द जैन कालिज, अम्बाला शहर का प्रिन्सिपल नियुक्त किया गया। अतः मुझे लाहौर छोड़ कर अम्बाले जाना पड़ा। मेरी अनुपस्थिति में प्रूफ-संशोधन का कष्ट मेरे पूज्य पिता डा० बनारसीदास को उठाना पड़ा। इस का मुझे बड़ा खेद है।

मूलराज जैन

विषय-सूची

भारतीय संपादन-शास्त्र

(लेखक—मूलराज जैन, एम० ए०, एल एल० बी०, मेयो-पटियाला रिसर्च
स्कालर, पंजाब युनिवर्सिटी)

पहिला अध्याय

भूमिका

संपादन-शास्त्र वह शास्त्र है जिसके द्वारा किसी प्राचीन रचना की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतिलिपियों आदि के आधार पर हम उस रचना को इस प्रकार संशोधन कर सकें कि जहां तक संभव हो स्वयं रचयिता की मौलिक रचना या उसकी प्राचीन से प्राचीन अवस्था का ज्ञान हो सके। इसमें प्रतियों का परस्पर संबंध क्या है, उनका मूलस्रोत कौनसा है, उन में क्रमश: कौन कौनसे परिवर्तन हुए और क्यों हुए, उन से प्राचीनतम पाठ कैसे निश्चित किया जाए, उन की अशुद्धियों का सुधार कैसे करना चाहिए, आदि बातों पर विवेचन किया जाता है। संक्षेपतः इस शास्त्र की सहायता से किसी रचना की उपलब्ध प्रतियों आदि के मिलान से जहां तक हो सके उस के मौलिक अथवा प्राचीनतम रूप का निश्चय किया जा सकता है। मौलिक रूप से हमारा तात्पर्य किसी रचना के उस रूप से है जो उसके रचयिता को अभीष्ट था।

इस शास्त्र का संबंध प्रायः प्राचीन रचनाओं से है। 'रचना' की और भी अनेक संज्ञाएं हैं जैसे पुस्त, पुस्तक, पोथी, सूत्र, ग्रंथ, कृति आदि। 'पुस्त' और 'पुस्तक'[1] संस्कृत धातु 'पुस्त' (बांधना) से निकले हैं। चूंकि प्राचीन काल में जिन पत्रादि पर रचना लिखी जाती थी उन को धागे से बांधते थे, इसलिए रचना को 'पुस्त' या 'पुस्तक' कहते थे। 'पुस्तक' शब्द से ही प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का 'पोथी' शब्द निकला है। 'सूत्र' उस सूत्र या डोरी की स्मृति दिलाता है जिस से पत्रादि बांधे जाते थे। 'ग्रंथ' 'ग्रंथ्' (बांधना, गांठ देना) धातु से निकला है और पत्रादि को बांधने के लिए सूत्र में दी हुई गांठ का सूचक है। यह रचनाएं प्रायः वनस्पति से प्राप्त सामग्री (ताडपत्र, भोजपत्र, कागज, लकड़ी, वस्त्रादि[2]) पर लिखी जाती थीं अतः इन के विभागों को स्कंध, कांड, शाखा, वल्ली आदि नाम

---

१. संभव है कि 'पुस्त', 'पुस्तक' शब्द फ़ारसी से लिए गए हों क्योंकि उस भाषा में 'पुश्त', 'पोस्त' (= सं० पृष्ठ) का अर्थ 'पीठ, चर्म होता है, और फारस के लोग चर्म पर लिखते थे।

२. लेख धातु, चर्म, पाषाण, ईंट, मिट्टी की मुद्रा आदि पर भी मिलते हैं।

दिए गए। यह नाम वनस्पति से संबंध रखते हैं । पत्र और पन्ना (= सं० पर्ण) भी वृक्षों के पत्तों के ही स्मारक हैं ।

आज यह रचनाएं हमें हस्तलिखित प्रतिलिपियों के रूप में प्राप्त होती हैं। हमे खेद से कहना पड़ता है कि भारत में अति प्राचीन प्रतियों का प्रायः अभाव है। सिंधु-सभ्यता के ज्ञान से पहले अजमेर ज़िले के 'बड़ली' ग्राम से प्राप्त जैन शिलालेख, 'पिप्रावा' से उपलब्ध बौद्ध लेख[1], और अनेक स्थानो पर विद्यमान, महाराज अशोक की शिलोत्कीर्ण धर्मलिपियां ही प्राचीनतम लेख माने जाते थे। और कोई भी पुस्तक विक्रम से पूर्व लिपिकृत प्राप्त नहीं हुई। प्राचीन लेखो के अभाव का कारण ब्यूलर आदि कई पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार यह था कि उस काल मे भारतीय लेखन-कला से अनभिज्ञ थे । उन का मत है कि भारत की पुरानी लिपियां—ब्राह्मी और खरोष्ठी—प्राचीन पाश्चात्य लिपियों से निकली हैं। परंतु हड़प्पा, मोहिंजोदड़ो आदि स्थानों पर खुदाई होने से निश्चित रूप से ज्ञान हो गया है कि भारतीय उस सभ्यता के समय लिपि का आविष्कार कर चुके थे और उन मे लिखने का प्रचार काफ़ी था। यह लिपि चित्रात्मक है और प्राचीन काल की पाश्चात्य लिपियों से बहुत मिलती है। संभव है कि इस सभ्यता का मिश्र आदि देशो की तात्कालिक सभ्यता से घनिष्ठ संबध और संपर्क हो। अतः यह निश्चित है कि जिस समय पाश्चात्य लोग लिपि का प्रयोग करते थे (यदि उस से पूर्व काल मे नहीं तो) उस समय भारत मे लिपि का प्रयोग अवश्य होता था।

मोहिंजोदड़ो और हड़प्पा से अभी तक कोई लम्बा लेख नहीं मिला परंतु कुछ लेखान्वित मुद्राए और मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं। खुदाई में थोड़े ताम्रपत्र और मिट्टी के कड़े भी हाथ लगे हैं, जिन पर अक्षर उत्कीर्ण किए हुए हैं। इन लेखों की लिपि को पढ़ने मे अभी पूरी सफलता नहीं हुई। अब तक यहां से कुल ३६६ चित्र-चिह्न मिले हैं। कुछ चिह्न समस्त रूप मे हैं और कई चिह्नो का रूप मात्राओं के लगने से परिवर्तित हो गया है। १२ मात्राओं तक के समूह भी दृष्टिगोचर होते हैं। संभवतः यह उच्चारण-शास्त्र के अनुसार हैं। यह चिह्न दाए से बाएं हाथ को लिखे जाते थे। इन चिह्नों की इतनी बड़ी संख्या से यह सूचित होता है कि वह लिपि वर्णात्मक न थी, अपितु अक्षरात्मक या भावात्मक थी[2]। कम लेखों के मिलने से यह अनुमान हो सकता है कि उस समय की लेखन-सामग्री चिरस्थायी न थी।

---

१. ओझा—भारतीय प्राचीन लिपिमाला (दूसरा सं०), पृ० २-३।

२. राधाकुमुद मुकरजी—हिंदू सिविलाइज़ेशन, पृ० १८-१६।

संभवत वह लोग वृक्षों के पत्र, छाल या लकड़ी वस्त्र, चर्म आदि पर लिखते होंगे। अत: समय के साथ साथ लेख भी नष्ट होते गए[१]।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे कई ऐसे स्थल हैं जिन मे लेखन-कला का स्पष्ट उल्लेख है, और बहुत से ऐसे हैं जिनके आधार पर तत्तत्काल मे इस कला के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है[२]। पाश्चात्य लेखक भी लिखते हैं कि ख्रीष्ट से ४०० वर्ष पूर्व भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञान था और वह अपनी दिनचर्या मे इसका प्रयोग करते थे। चंद्रगुप्त मौर्य के समकालीन यवन लेखक निअर्कस ने तो यहां तक लिखा है कि हिंदुस्तान के लोग रूई को कूटकर लिखने के लिए कागज़ बनाते हैं[३]। इसलिए हम निश्चय से कह सकते है कि पाश्चात्य देशों के समान भारत मे भी लेखन-कला का ज्ञान और प्रयोग बहुत प्राचीन है।

फिर भी भारत मे बहुत पुरानी हस्तलिखित पुस्तको का अभाव है। इन के कारण निम्नलिखित हैं।

(१) स्मरण-शक्ति का प्रयोग और लिखित पुस्तको का अनादर—हमारे पूर्वज पठन-पाठन मे स्मरण-शक्ति का प्रयोग बहुत करते थे। यज्ञ मे वेदमन्त्रो का शुद्ध प्रयोग आवश्यक था। इन मे स्वर और वर्ण की अशुद्धि यजमान का नाश कर सकती थी। अत इन का शुद्ध उच्चारण गुरु-मुख से ही सीखा जाता था। इसलिए वैदिक लोग न केवल मंत्रों को, वरन उन के पदपाठ को, दो दो पद मिलाकर क्रम पाठ को और इसी तरह पदों के उलट-फेर से घन, जटा आदि पाठो को भी स्वर-सहित कठस्थ करते थे। गुरु अपने शिष्यो को मत्र का एक एक अश सुनाता और वह उन्हे ज्यों का त्यों रट लेते थे। स्वर आदि की मर्यादा नष्ट न होने पाए, इसलिए लिखित पुस्तकों से वेद-पाठ का निषेध किया गया[४]। परंतु वेद लिपिकृत अवश्य किए जाते थे[५]। वेद के पठन-पाठन मे लिखित पुस्तक का अनादर एक

१ मार्शल—महिंजोदडो, पृ० ३५।

२. लिपिमाला, पृ० ४-१५।

३ लिपिमाला, पृ० १४४।

४. यथैवान्यायविज्ञाताद्वेदाल्लेख्यादिपूर्वकम्।
शूद्रेणाधिगताद्वापि धर्मज्ञानं न संमतम्॥ (कुमारिल का तंत्रवार्त्तिक, जैमिनि-मीमासा-दर्शन के अ० १, पाद ३, अधिकरण ३, सूत्र ७ पर, पृ० २०३)

५. वेदविक्रयिणश्चैव वेदाना चैव दूषका:।
वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिन.॥
(महाभारत, अनुशासन पर्व, ६३। २८)

प्राचीन रीति हो गई और उसी की देखा-देखी और शास्त्र भी जहा तक हो सके कठस्थ किए जाने लगे। यहां तक कि आज भी वेद लोगो को कंठस्थ हैं। और भारतीय लोग कठस्था विद्या को ही विद्या मानने लगे। गीता मे आत्मा के विषय मे लिखा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावक ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ॥ (२, २३)

यह उक्ति इस कंठस्था विद्या के लिए पूरी तरह लागू होती है। हिंदुओं की परिपाटी शताब्दियों तक यही रही है कि मस्तिष्क और स्मृति ही पुस्तकालय का काम दें वह कहते हैं कि पुस्तकों से विद्या लेने वाला पुरुष कभी विद्वत्सभा मे चमक नहीं सकता[1]। इसी लिए सूत्र ग्रंथों की संक्षेप शैली से रचना हुई। इसी लिए ज्योतिष, वैद्यक, अंक-गणित, बीजगणित आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्रंथ भी बहुधा श्लोकबद्ध लिखे जाने लगे। और तो और कोश जैसे ग्रंथ भी छंदोबद्ध लिखे गए ताकि शीघ्र कंठस्थ हो सकें।

२—लेखन-सामग्री की नश्वरता—प्राचीन काल मे जिस सामग्री पर पुस्तके लिखते थे, वह सब चिरस्थायी न होगी, और समय के व्यतीत होने के साथ साथ लिपिबद्ध पुस्तकें भी नष्ट भ्रष्ट होती गई।

३—भारत मे यह परिपाटी है कि लिखित पुस्तके जब काम की न रहे तब वह गगा आदि पवित्र नदियों की भेट कर दी जाती हैं[2]।

४—राज-विप्लव आदि के कारण भी बहुत सी लिखित पुस्तकों का नाश हुआ है।

साहित्यक्षेत्र मे लेखन ने स्मरण-शक्ति का स्थान शनैः शनैः लिया होगा। परंतु कब लिया—इस बात का निर्णय कठिन है। जैन और बौद्ध साहित्य मे निश्चयपूर्वक बतलाया गया है कि किस किस समय उनका धार्मिक साहित्य लिपिबद्ध किया गया। जैनों ने जब देखा कि हमारा आगमिक साहित्य नष्ट भ्रष्ट होता जा रहा है तो उन्होंने समय समय पर कई विद्वत्परिषदें पाटलिपुत्र (विक्रम से पूर्व चौथी शताब्दी मे) मथुरा, वलभी आदि स्थानो मे की। वलभी का परिषद् विक्रम की छठी शताब्दी मे हुई और इस मे सब आगमो को लिपिबद्ध किया गया। बौद्ध साहित्य की संभाल के लिए भी कई सभाएं हुई—अशोक के समय

---

१. पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः ॥

की माधवीय टीका (पराशर धर्म संहिता (१, १८) भाग १, पृ० १५४) मे उद्धृत नारद का वचन।

२. काणे स्मारक ग्रंथ (अंग्रेजी) पृ० ७५।

मे पाटलिपुत्र में, कनिष्क के समय मे काश्मीर मे कुडलवन मे। काश्मीर वाली सभा के वर्णन में यह आता है कि सकल सिद्धात को ताम्रपत्रो पर उत्कीर्ण करके एक स्तूप मे रख दिया ताकि नष्ट न होने पाए। परंतु हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि यह सिद्धांत लिपिबद्ध थे या स्मृति द्वारा ही उन तक पहुचे थे। ब्राह्मण साहित्य में कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि ब्राह्मणो ने अपने धार्मिक साहित्य को लिपिबद्ध करना कब आरंभ किया।

एक या अनेक कर्ता की अपेक्षा से भारतीय साहित्य दो श्रेणियो मे विभक्त हो सकता है।

१—समष्टि-रचित साहित्य—भारत का कुछ प्राचीन साहित्य ऐसा है जिसके सर्जन मे किसी व्यक्ति विशेष का हाथ न होकर किसी सप्रदाय का हाथ होता था। सारा ऋग्वेद किसी एक ऋषि को दिखलाई नहीं दिया (या किसी एक कवि की कृति नहीं), किंतु कई ऋषियो को दिखाई दिया। वेद मे जितने मत्र किसी एक ऋषि के नाम के साथ आते है वह सब उसी एक ऋषि द्वारा नही अपितु उस ऋषि तथा उसकी शिष्य परम्परा द्वारा देखे या बनाए होते हैं। वेदादि धार्मिक साहित्य मे शुद्धता वांछित थी इसलिए इस की रक्षा के लिए पद, क्रम, घन, जटा आदि पाठो को प्रयोग मे लाया गया। इस के परिणाम-स्वरूप स्मृतिपट से लिपिपट पर आते समय वैदिक साहित्य में अशुद्धिया कम हुई और पाठ शुद्ध रूप से चला आया है। परन्तु जिन रचनाओं के साथ धार्मिकता एव पवित्रता का इतना घनिष्ठ संबंध नहीं, उन मे शुद्धता पूर्ण रूप से नहीं मिलती, जैसे महाभारत, पुराण आदि। भिन्न भिन्न विद्या-केंद्रों पर इन की स्थानीय धाराए बन गई। प्राय: देखा जाता है कि ऐसा साहित्य पहले स्मरण-शक्ति द्वारा ही प्रचलित होता था और कुछ काल पीछे लिपिबद्ध किया जाता था। इस अतर मे इस मे कुछ न कुछ परिवर्तन आ जाता था क्योंकि कई वाचको और पंडितो ने अपनी बुद्धि का प्रभाव इस पर डाला होगा। इस साहित्य के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक प्रति मे मूलपाठ मिलता है या मिलता था। हम केवल इतना कह सकते है कि वह रचना अमुक प्रति मे प्रथम बार लिपिबद्ध की गई।

२—व्यक्ति-रचित साहित्य—इस साहित्य के विषय में यह संभावना प्रबल होती है कि रचयिता ने अपनी कृति को या तो स्वयं लिपिबद्ध किया हो या अपने निरीक्षण मे किसी से लिखवा कर स्वय शुद्ध कर लिया हो। ग्रंथकार की स्वयं लिखी हुई या लिखाई हुई इस प्रति को मूल प्रति कहते है। इस साहित्य में मूल रचना

और मूल प्रति के लिपिकाल मे इतना अन्तर नही पडता और न ही स्थानीय धाराओं की इतनी सम्भावना होती है जितनी समष्टि-रचित साहित्य मे।

इस प्रकार रचनाओं के दो भेद हो गए—एक तो वह रचनाएं जिन की मूल प्रतियां थीं, चाहे वह अब उपलब्ध हो या न हों। दूसरी वह रचनाएं जिन की मूल प्रतियां थीं ही नहीं। यह प्राय स्मरण-शक्ति द्वारा प्रचलित होती रहीं, और समय पाकर लिपिबद्ध हो गईं।

मध्यकालीन भारत मे लिखित पुस्तकों का बहुत प्रचार था यहां तक कि चीनी यात्री ह्यूनसांग यहां से चीन लौटते समय बीस घोडों पर पुस्तकें लाद कर अपने साथ ले गया जिन में ६५७ भिन्न भिन्न पुस्तकें थीं[1]। मध्य भारत का श्रमण पुण्योपाय वि० सं० ७१२ में १५०० से अधिक पुस्तके लेकर चीन को गया था[2]। पुस्तकें इतनी बडी संख्या में मिलती थीं, इस के भी कारण थे। अपनी रचना को वर्षा अग्नि आदि के कारण नष्ट होने से बचाने के लिए और उसे अन्य इच्छुक विद्वानों तक पहुचाने के लिए रचयिता स्वयं अपनी मूल प्रति के आधार पर अनेक प्रतिलिपियां करता या दूसरों से करवाता था। राजशेखर ने काव्यमीमांसा[3] मे लिखा है कि कवि अपनी कृति की कई प्रतियां करे या कराए जिस से वह कृति सुरक्षित रह सके और नष्ट भ्रष्ट न होने पाए।

यदि वह रचना शीघ्र प्रसिद्ध हो जाती तो उस की मांग होने लगती और विद्याप्रेमी राजा और विद्वान अपनी अपनी प्रतियां बनाते या बनवाते थे।

---

१. वी० ए० स्मिथ –अरली हिस्टरी आफ़ इंडिया (चौथा संस्करण), पृ० ३६५।

२. लिपिमाला, पृ० १६।

३. (गायकवाड़ सिरीज़, प्रथम स०) पृ० ५३ –
सिद्धं च प्रबन्धमनेकादर्शगतं कुर्यात्। यदित्थं कथयन्ति—

"निक्षेपो विक्रयो दानं देशत्यागोऽल्पजीविता।
त्रुटिको वह्निरम्भश्च प्रबन्धोच्छेदहेतवः॥
दारिद्र्यं व्यसनासक्तिरवज्ञा मन्दभाग्यता।
दुष्टे द्विष्टे च विश्वास पञ्च काव्यमहापदः॥"

पुनः समापयिष्यामि, पुनः संस्करिष्यामि, सुहृद्भिः सह विवेचयिष्यामीति कर्तुराकुलता राष्ट्रोपप्लवश्च प्रबन्धविनाशकारणानि।

मध्यकाल में लोग पुस्तक-दान का काफी माहात्म्य मानते थे[1]। दान देने के लिए भी पुस्तकें लिपिबद्ध होती थीं। प्राचीन यात्रियों का इतनी बड़ी संख्या में प्रतियों को विदेश ले जाना भी यही सिद्ध करता है कि उस समय दान मे पुस्तकें बहुत दी जाती थीं, क्योंकि बौद्ध भिक्षु कोई योरुप या अमेरिका के धनाढ्य टूरिस्ट तो थे नहीं कि यहां तोड़े खोलकर पुस्तके मोल ले लेते। उन्हे जितनी पुस्तकें मिलीं वह गृहस्थो, भिक्षुओं, मठों या राजाओं से दान मे मिली होंगी[2]।

यह पुस्तकें प्राय राजदरबार, मंदिर, पाठशाला, विहार, मठ, उपाश्रय आदि से संबद्ध पुस्तकालयों में या व्यक्तिगत रूप से निर्मित पुस्तक-संग्रहों मे रखी जाती थीं। संस्कृत भाषा मे इन पुस्तकालयों को 'भारती भाडागार' या 'सरस्वती भाडागार' कहते हैं। इसी 'भाडागार' शब्द से आधुनिक 'भंडार' शब्द की उत्पत्ति हुई है। बाण[3] स्वय लिखता है कि उस के पास एक पुस्तक-वाचक था, जिस का कर्तव्य उसे पुस्तके पढ कर सुनाना था। इस से अनुमान किया जा सकता है कि बाण

---

१ विप्राय पुस्तक दत्त्वा धर्मशास्त्रस्य च द्विज।
पुराणस्य च यो दद्यात् स देवत्वमवाप्नुयात्॥
शास्त्रदृष्ट्या जगत् सर्वं सुश्रुतञ्च शुभाशुभम्।
तस्मात् शास्त्रं प्रयत्नेन दद्याद् विप्राय कार्त्तिके॥
वेदविद्यां च यो दद्यात् स्वर्गे कल्पत्रयं वसेत्।
आत्मविद्याञ्च यो दद्यात् तस्य संख्या न विद्यते॥
त्रीणि तुल्यप्रदानानि त्रीणि तुल्यफलानि च।
शास्त्रं कामदुघा धेनुः पृथिवी चैव शाश्वती॥

पद्म पुराण, उत्तर खड, अध्याय ११७ (?)

वेदार्थयज्ञशास्त्राणि धर्मशास्त्राणि चैव हि।
मूल्येन लेखयित्वा यो दद्याद् याति स वैदिकम्॥
इतिहास-पुराणानि लिखित्वा यः प्रयच्छति।
ब्रह्मदानसमं पुण्यं प्राप्नोति द्विगुणीकृतम्॥

गरुड पुराण, अध्याय २१५ (?)

(शब्दकल्पद्रुम मे 'पुस्तक' शब्द के विवरण से उद्धृत)

२ लिपिमाला पृ० १६।

३ हर्षचरित तृतीय उच्छ्वास, जीवानद का दूसरा संस्करण पृ० २००-२०२ अथवा कॉवेल का अनुवाद पृ० ७२-७३।

के पास एक अच्छा ख़ासा पुस्तक भडार होगा। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में धारा के राजा भोज के महल मे भारी पुस्तक-सग्रह था। वि० स० १२०० के लगभग सिद्ध-राज जयसिंह इसे अपने पुस्तकालय मे मिलाने के लिए अणहिलवाड पाटण में ले आया था। इसी प्रकार राज-भडारो मे बहुत सी पुस्तकें सगृहीत हो जाती थीं। खम्भात के दो जैन भडारो मे ३०००० से भी अधिक पुस्तके हैं। तंजोर की राजलाइब्रेरी में १२००० से ऊपर पुस्तके हैं[1]। इसी प्रकार पाटण के जैन भंडारो में १२००० से अधिक कागज़ की हस्तलिखित पुस्तके हैं और ६५८ ताडपत्रीय पुस्तके है[2]। चौलुक्य वीसलदेव (वि० सं० १२९६-१३१९) के पुस्तकालय मे 'नैषध' की वह प्रति थी जिस के आधार पर विद्याधर ने इस काव्य पर पहली टीका लिखी। इसी पुस्तकालय मे सुरक्षित 'कामसूत्र' की एक प्रति के आधार पर यशोधर ने 'जयमगला' टीका रची। बॉन (जर्मनी) के विश्वविद्यालय के पुस्तकालय मे रामायण की एक प्रति है जो वीसलदेव के सग्रह के आदर्श की प्रतिलिपि है[3]। इस से हम कह सकते हैं कि भारत मे सातवीं शताब्दी मे पुस्तकालयों का अस्तित्व था और भारत के बाहर से तो इस काल से भी बहुत पहले की पुस्तकें प्राप्त हुई है।

दूसरा अध्याय

सामग्री

किसी प्राचीन ग्रंथ के सपादन करने के लिए सपादक को चाहिए कि वह उस ग्रथ की सब सामग्री की पूरी पूरी खोज करे। यह सामग्री दो प्रकार की है—मूल और सहायक।

मूल सामग्री

मूल सामग्री वह है जिस के आधार पर किसी रचना का सपादन किया जाता है। यह प्राय: हस्तलिखित प्रतियो के रूप मे होती है। हस्तलिखित प्रतियों से हमारा तात्पर्य किसी ग्रंथ की उन प्रतियों से है जो उस ग्रथ की छपाई से पहले हाथ द्वारा

---

१. कात्रे—इडियन टैक्स्चुअल क्रिटिसिज़्म, पृ० १३।

२. डिस्क्रिप्टिव कैटॅलॉग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि जैन भडारज़ एट पाटण, भूमिका, पृ० ४१।

३. कात्रे, पृ० १३।

लिखी गई हो। इन प्रतियों का परिचय प्राप्त करने के लिए सूचियों का प्रयोग करना पड़ता है। सूची-साहित्य बृहत्काय हो गया है। कई विवरणात्मक सूचियां छप चुकी हैं और अब भी छप रही हैं। सब से प्राचीन सूची काशी के पंडित कवीन्द्राचार्य (वि० सं० १७१३) की है।

परंपरा की अपेक्षा प्रतिएं कई प्रकार की हैं—

मूलप्रति—जैसा कि पहले बतलाया गया है मूलप्रति उस प्रति को कहते हैं जिस को ग्रंथकार ने स्वयं लिपिबद्ध किया हो या अपने निरीक्षण मे किसी से लिपिबद्ध करवा कर स्वयं शुद्ध कर लिया हो। प्राचीन मूलप्रतियो मे पाठ की अशुद्धियां हो जाती होंगी क्योंकि हम देखते हैं कि आधुनिक लेखो की मूलप्रतियों मे भी छोटी मोटी अशुद्धियां हो जाती हैं। प्राचीन अथवा अर्वाचीन मूल प्रतियो का संपादक इन्हीं को शोधता है।

प्रथम प्रति—प्रथम प्रति वह प्रति होती है जो किसी कृति की मूलप्रति से तय्यार की जाए, जैसे शिलालेख, ताम्रपत्र आदि। यदि किसी मूल प्रति से कई प्रतिया की जावे तो वह सभी प्रथम प्रतियां ही कहलावेंगी। पुस्तकों की भी प्रथम प्रतिया मिलती हैं। उत्कीर्ण लेखो और पाषाण आदि पर खुदे हुए काव्य आदि की रक्षा का यदि उचित प्रबंध न हो तो वह टूट फूट जाते हैं। ऋतुओं के विरोधी आघातों को सहते सहते वह घिस कर मद्धम पड जाते हैं। और उन को खोदते समय करणक भी थोडी बहुत अशुद्धिया कर ही जाता है। इन त्रुटित अंशो को पूरा करना और अशुद्धियो को सुधारना संपादक का कार्यक्षेत्र है।

प्रतिलिपि—भारत में मूल और प्रथम प्रतिएं बहुत ही कम संख्या मे उपलब्ध होती हैं। संपादकों को प्राय: मूल अथवा प्रथम प्रति की प्रतिलिपिया या इन प्रतिलिपियो की प्रतिलिपियां ही मिलती हैं जिन के आधार पर इन्हे रचना का मौलिक या प्राचीनतम रूप प्राप्त करना पड़ता है।

प्रतियां आधुनिक काल की तरह मुद्रण-यंत्रों से नहीं बनती थीं। इन को मनुष्य अपने हाथो से तय्यार करते थे। जिस प्रति को देख कर कोई प्रतिलिपि की जाती है, उसे उस प्रतिलिपि का 'आदर्श' कहते हैं। प्रतिलिपि कभी भी अपने आदर्श के बिलकुल समान नहीं हो सकती, इस में अवश्य कुछ न कुछ अंतर पड़ जाता था। इस में थोड़ी बहुत अशुद्धियां आ ही जाती थीं। इसलिए प्रतिलिपि अपने आदर्श से सदा कम विश्वसनीय होती है। एक प्रति से अनेक प्रतिया और इन से फिर और प्रतियां तय्यार होती रहती थीं। इस प्रकार ज्यो ज्यों प्रतिलिपि मूल या प्रथम प्रति से दूर

हटती जाती है, त्यों त्यों उस में अशुद्धियों की संख्या भी बढ़ती जाती है। उदाहरणार्थ कल्पना कीजिए कि किसी कृति की प्रति 'क' पूर्ण रूप से शुद्ध है अर्थात् शत प्रतिशत शुद्ध है। इस प्रति 'क' से एक प्रतिलिपि 'ख' तय्यार की गई और इस प्रतिलिपि 'ख' से एक और प्रतिलिपि 'ग' बनाई गई। प्रत्येक लिपिकार कुछ न कुछ अशुद्धियां अवश्य करता है—मान लीजिये कि प्रथम लिपिकार ने ५ प्रतिशत अशुद्धियां कीं और दूसरे ने भी इतनी ही। तो 'ख' और 'ग' की शुद्धता ९५ और ९०·२५ प्रतिशत रह जावेगी। इसी प्रकार यदि 'ग' से 'घ' प्रतिलिपि की जाए तो इस 'घ' की शुद्धता केवल ८५·७४ प्रतिशत रह जावेगी। इसलिए किसी प्रति की पूर्वपूर्वता काफ़ी हद तक उस की शुद्धता का द्योतक होती है।

प्रतियों की विशेषताएं

प्रतियों की सामग्री—प्राचीन प्रतियां प्रायः ताडपत्र, भोजपत्र, कागज़, और कभी कभी वस्त्र, लकडी, धातु चमडा, पाषाण, ईंट, आदि पर भी मिलती हैं।

पंक्तियां—प्राचीन शिलालेखों का खरडा बनाने वाले पंक्तियों को सीधा पर रखने का प्रयत्न करते थे। अशोक की धर्मलिपियों में यह प्रयत्न पूर्णतया सफल नहीं हुआ, परंतु उसी काल के अन्य लेखों में सफल रहा है। केवल उन्मात्राएं (ि, ी, े, ै, ो, ौ) ही रेखा से ऊपर उठती हैं। प्राचीन से प्राचीन पुस्तकों में पंक्तियां प्रायः सीधी होती हैं। प्राचीन ताडपत्र और कागज की पुस्तकों में पृष्ठ के दाईं और बाईं ओर खडी रेखाएं होती हैं जो हाशिए का काम देती हैं।

एक चौडी पाटी पर निश्चित अंतरों पर सूत का डोरा कस देते थे, इस पर पत्रादि रख कर दबा दिए जाते थे जिस से उन पर सीधी रेखाओं के निशान पड जाते थे। इन पर लिखा जाता था।

शब्द-विग्रह—पंक्ति, श्लोक या पाद के अंत तक शब्द साधारणतया एक दूसरे के साथ जोड कर लिखे होते हैं। परंतु कुछ प्राचीन लेखों में शब्द जुदा जुदा हैं। कई प्रतियों में समस्त पद के शब्दों को जुदा करने के लिए छोटी सी खडी रेखा शब्द के अंत में शीर्ष-रेखा के ऊपर लगा दी जाती थी।

विराम-चिह्न—खरोष्ठी शिलालेखों में विराम-चिह्न नहीं मिलते, परंतु धम्मपद में प्रत्येक पद्य के अंत में बिंदु से मिलता जुलता चिह्न पाया जाता है और वर्गों के अंत में वैसा ही चिह्न मिलता है जैसा कई शिलालेखों के अंत में होता है जो शायद कमल का सूचक है। ब्राह्मी लिपि के लेखों में कई प्रकार के विराम-चिह्न हैं।

विक्रम संवत् से पहले शिलालेखों में यह चिह्न बहुत कम दिखाई देते हैं—उनमें कहीं कहीं सीधे और टेढ़े दंड होते हैं। विक्रम की पांचवीं शताब्दी से यह चिह्न नियमित रूप से आते हैं—पाद के अंत पर एक दड और श्लोक के अंत पर दो दंड। दक्षिण मे आठवीं शताब्दी तक के कई लेख और शासन इन के बिना मिलते हैं।

संकेत—जिस शब्द को दुहराना होता है, उसको लिखकर '२' का अंक लगा दिया जाता है। हाशिए मे ग्रंथ का नाम संक्षिप्त रूप से दिया होता है। कहीं कहीं अध्याय आदि का नाम भी सक्षेप से मिलता है। जैन तथा बौद्ध सूत्रों मे एक स्थान पर नगर, उद्यान आदि का वर्णन कर दिया होता है। फिर जहा इन का वर्णन देना हो वहां इसे न देकर केवल ' वएणओ ' (वर्णनम्) शब्द लिख दिया जाता है। इस से पाठक को वहां पर उचित पाठ समझ लेना पडता है।

पत्र-गणना—प्रतियों मे पत्रो की संख्या दी होती है, पृष्ठों की नहीं। दक्षिण मे पत्रे के प्रथम पृष्ठ पर और अन्यत्र दूसरे पर संख्या दी होती है। यह पत्रे के हाशिए मे होती है—बाईं ओर वाले में ऊपर और दाईं ओर वाले मे नीचे। कई प्रतियो मे सख्या केवल एक ही स्थान पर होती है।

कुछ प्राचीन प्रतियो मे पत्र-संख्या अंको मे नहीं दी होती। अपितु अक्षरो द्वारा सकेतित होती है। पत्र-गणना मे अंको को अक्षरों द्वारा सकेतित करने की कई रीतिया हैं[1]। उदाहरण—ऋगर्थदीपिका, भाग १, भूमिका पृष्ठ ३६ से उद्धृत।

१	के लिए	न	९	के लिए	ध्र
२	,,	त्र	१०	,,	म
३	,,	न्य	११	,,	मन
४	,,	ष्क	१२	,,	मत्र
५	,,	म्क	१३	,,	मन्य
६	,,	ह्रा	१४	,,	मष्क
७	,,	ग्र	१५	,,	मम्क
८	,,	प्र	१६	,,	मह्रा

१. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित ऋगर्थदीपिका, भाग १, भूमिका पृष्ठ ३८-३९, डिस्क्रिप्टिव कैटॉलॉग आफ़ दि गवर्मेंट कोलेक्शन्ज़ आफ़ मैनुस्क्रिप्ट्स डिपोजिटेड एट दि भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, भाग १७,२, परिशिष्ट ३।

१७	के लिए	मम	६०	के लिए	त्र
१८	,,	मप्र	७०	,,	त्रु
१६	,,	मद्रे	८०	,,	छ
२०	,,	थ	६०	,,	या
३०	,,	ल	१००	,,	ञ
४०	,,	म	२००	,,	अञ
५०	,,	व			

लिपिकार—

प्रतिलिपियां करने वाले विशेष व्यक्ति हुआ करते थे। पुस्तकें लिखना ही इनकी आजीविका थी। विक्रम के पूर्व चौथी शताब्दी मे इनको ' लिपिकर ', 'लिपिकार' या, 'लिबिकर' कहते थे। विक्रम की सातवी और आठवीं शताब्दियो मे इन को 'दिविरपति' (फारसी ' दबीर ') कहते थे। ग्यारहवीं शताब्दी से लिपिकारों को 'कायस्थ' भी कहने लगे जो आज भारत मे एक जाति विशेष का नाम है। शिला-लेखों और ताम्र-पत्रो को उत्कीर्ण करने वालो को करण(क), करणिन, शासनिक, धर्म-लेखिन कहते थे। जैन भिक्षुओं और यतियो ने जैन तथा जैनेतर साहित्य को लिपिबद्ध करने मे बहुत परिश्रम किया। भारतीय लौकिक साहित्य का बृहत् भाग जैन लिपिकारों द्वारा लिपिकृत मिलता है। इस लिए भारतीय साहित्य के सर्जन, रक्षण और प्रचार में जैनों का स्थान बहुत ऊंचा है। विद्यार्थी अपनी अपनी प्रतियां भी बनाया करते थे, जिनका आदर्श प्राय गुरु की प्रति होती थी।

लिपिकार प्राय दो प्रकार के होते थे, एक तो वह जो स्वयं रचयिता की, या उसके किसी विद्वान प्रतिनिधि की, या किसी विद्या-प्रेमी राजा आदि द्वारा नियुक्त विद्वानों की देख रेख मे काम करते थे। इन लिपिकारों द्वारा की हुई प्रतियों मे पाठ की पर्याप्त शुद्धि होती है। रचयिता की अपेक्षा अन्य विद्वानों के निरीक्षण मे की गई प्रतियों मे दोष होने की संभावना अधिक होती है। दूसरे लिपिकार वह होते थे जो किसी विद्वान् के निरीक्षण में तो पुस्तको की लिपि नहीं करते थे पर अपनी आजीविका कमाने के लिए दूसरो के निमित्त प्रतियां बनाते रहते थे। जैसे जैसे किसी मनुष्य को किसी रचना की आवश्यकता पड़ी, उसने किसी लिपिकार को कहा और उसने प्रस्तुत रचना की लिपि कर दी। यह लिपिकार प्राय कम पढ़े होते थे। अत इनकी लिखी हुई प्रतियो मे दोष अधिक होते हैं। कुछ मनुष्य अपनी मनःसतुष्टि और निजी प्रयोग के लिए भी पुस्तको की लिपिया बनाते थे।

वही लिपिकार आदर्श है[1] जो अपनी आदर्श प्रति पर अंध विश्वास रखता है, उसका यथासंभव ठीक ठीक अनुसरण करता है, मक्खी पर मक्खी मारता है। परंतु ऐसे लिपिकार प्राय कम मिलते हैं। वह शब्द लिखते हैं, अक्षर नहीं, अर्थात् वह अपनी आदर्श प्रति से थोड़ा सा पाठ पढ लेते हैं और उसे अपनी प्रति में लिख लेते हैं, फिर थोड़ा सा पढ लेते हैं और लिख लेते हैं, और इसी तरह लिखते जाते हैं। इस से कहीं न कहीं प्रस्तुत पाठ मे अंतर आ जाता है। मूढ पुरुष अच्छी प्रतिलिपि बना सकता है क्योंकि लिपि करते समय वह अपनी बुद्धि को पीछे हटाए रखता है और केवल अपनी आदर्श प्रति से ही काम लेता है। जो लिपिकार अपने आदर्श के छूटे हुए अथवा त्रुटित पाठों को ज्यों का त्यों छोड देता है, उनको पूरा करने का प्रयत्न नहीं करता, जो अपनी प्रति में आदर्श की मामूली से मामूली अशुद्धि को भी रख देता है, वह प्राय: विश्वसनीय होता है।

लिपि करने का काम इतना सहज नहीं जितना प्रतीत होता है। लिखते लिखते लिपिकारों की कमर, पीठ और ग्रीवा दुखने लगते हैं। इस कठिनाई का उल्लेख वह स्वयं अपनी प्रशस्तियों मे करते हैं, जैसे—

---

१ मत्स्य पुराण अध्याय १८९ में लेखक (लिपिकार) का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

सर्वदेशाक्षराभिज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै ॥
शीर्षोपेतान सुसंपूर्णान् समश्रेणिगतान समान् ।
अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु लेखक: स वर. स्मृत: ॥
उपायवाक्यकुशल. सर्वशास्त्रविशारदः
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्याद् भृगूत्तम ॥
वाक्याभिप्रायतत्त्वज्ञो देशकालविभागवित् ।
अनाहार्य्यो नृपे भक्तो लेखक. स्याद् भृगूत्तम ॥

चाणक्यनीति मे इस का लक्षण ऐसे किया है—

सकृदुक्तगृहीतार्थो लघुहस्तो जिताक्षर ।
सर्वशास्त्रसमालोकी प्रकृष्टो नाम लेखक: ॥
(शब्द-कल्प-द्रुम के 'लेखक' के विवरण से उद्धृत)

काव्य मीमांसा पृष्ठ ५०—

सद:संस्कारविशुद्धयर्थं सर्वभाषाकुशल: शीघ्रवाक् चार्वक्षर इङ्गिताकारवेदी नानालिपिज्ञ. कवि: लाक्षणिकश्च लेखक: स्यात् ।

भग्नपृष्ठकटिग्रीवः स्तब्धदृष्टिरधोमुखम् ।
कष्टेन लिखितं ग्रन्थ यत्नेन प्रतिपालयेत्[1] ॥

वह यह भी जानते थे कि हम अपने आदर्श की प्रतिलिपि पूरी तरह नहीं कर पाए, हमारी प्रति मे कुछ न कुछ दोष अवश्य हो गए है । जैसे—

अदृश्यभावान्मतिविभ्रमाद्वा पदार्थहीनं लिखितं मयात्र ।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयं कोपं न कुर्युः खलु लेखकेषु ॥

मुनेरपि मतिभ्रंशो भीमस्यापि पराजयः ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मह्यं दोषो न दीयताम्[1] ॥

परंतु कई प्रशस्तियों में वह अपने आप को निर्दोष बतलाते हैं और सब अशुद्धियां आदर्श के सिर मढ़ देते हैं, जैसे—

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न विद्यते ॥

इस से स्पष्ट है कि प्रतियो में लिपिकार अशुद्धियां कर ही जाते थे । अशुद्धियां दो प्रकार की हैं—(१) दृष्टिविभ्रम और (२) मति-विभ्रम से उत्पन्न हुई अशुद्धियां । अक्षरो आदि का व्यत्यय, आगम अथवा लोप दृष्टिदोष के उदाहरण हैं जो लिपिकार के नेत्र अपने दौर्बल्य से और एकाग्रचित्तता के अभाव से करते हैं । वह अपने आदर्श की अशुद्धियो को भी सार्थ समझने का प्रयत्न करता है जिस से विचारदोष पैदा हो जाते हैं ।

कई बार ऐसा होता है कि लिपिकार की अशुद्धिया उस के आदर्श अथवा मूल या प्रथम प्रति से ही आई होती हैं । यदि आदर्श कहीं से टूट फूट गया हो, तो लिपिकार उन त्रुटित अंशो को अपनी मति के अनुसार पूरा करने का प्रयत्न करता है । इस से प्रतिलिपि मे कुछ अशुद्धियां आजाती हैं ।

प्रतियों का शोधन—

लिपिकार को अपनी कुछ अशुद्धियों का ज्ञान होता है । वह स्वयं इन को दूर कर देता है । पर कभी कभी अपने लेख मे कांट छांट न करने की इच्छा से उन का सुधार नहीं करता । यदि उस के अक्षर सुंदर हुए-जैसा कि प्राचीन काल मे प्रायः होता था—तो यह प्रलोभन और भी ज़ोर पकड़ता है । कहीं पर वह इन का सुधार इस लिये भी नहीं करता था कि इन से अर्थ मे कोई विपर्यय नहीं होता था ।

---

१. मैक्समूलर संपादित ऋग्वेद (दूसरा संस्करण) भाग १, भूमिका पृ० १३, टिप्पण ।

अशोक की धर्मलिपियों और अन्य प्राचीन शिलालेखो मे अशुद्ध अथवा फालतू अक्षर, शब्द आदि को काटा होता है । प्राचीन पुस्तकों मे ऐसे अक्षरो के ऊपर या नीचे बिंदु अथवा छोटी छोटी खडी रेखाएं बनाई मिलती हैं। कुछ शताब्दियो से इसी निमित्त हडताल (हरिताल) का प्रयोग भी मिलता है। कभी कभी हडताल से कटे हुए भाग पर भी लिखा होता है।

प्राचीन लेखों में छुटे हुए अक्षर, शब्द आदि पंक्तियों के ऊपर, नीचे या बीच मे, या अक्षरों के बीच मे लिखे मिलते हैं । परंतु यह बतलाने के लिए कोई संकेत नहीं होता कि यह पाठ कहां पर आना है । अर्वाचीन लेखों और पुस्तकों में इस स्थान का सकेत काकपाद या हंसपाद (+, ×, $\wedge$, $\vee$, $\overset{\vee}{\wedge}$) या स्वस्तिक से किया होता है। पाठ प्राय. पन्ने के चारो ओर के हाशिए मे दिया होता है। किसी किसी प्रति में जिस पंक्ति से वर्ण छूटे हो, उस की सख्या भी पाठ के साथ मिलती है।

जान बूझ कर छोड़े हुए पाठ को, या आदर्श के त्रुटित अश को सूचित करने के लिए उस का स्थान रिक्त छोड़ दिया जाता है। कहीं कही इस स्थान पर बिंदुओ का या छोटी खड़ी रेखाओं का प्रयोग मिलता।

कुडल या स्वस्तिक अपाठ्य पाठ के सूचक हैं।

कई प्रतिया स्वय रचयिता द्वारा सशोधित भी मिलती है। शोधन करके वह सारी पुस्तक फिर से लिखता था, या मूलप्रति को ही शुद्ध कर लेता था। रचयिता द्वारा शोधित यह मूलप्रति लिपिकारो की आदर्श प्रति बन जाती थी। इस से पाठातरों की उत्पत्ति हो सकती है—कही पर आदर्श मे दो पाठ हुए, एक तो पहला पाठ और दूसरा उस का शुद्ध रूप। चूकि इन मे से शुद्ध पाठ को सूचित करने का कोई संकेत न होता था इसलिए इन मे से लिपिकार एक को ग्रहण करता था और दूसरे को छोड़ देता था या हाशिए आदि मे लिख लेता था। इस प्रतिलिपि के आधार पर लिखी हुई कुछ प्रतियो मे दूसरे पाठ बिलकुल छूट सकते हैं। मालती-माधव की प्रतियों के निरीक्षण से वृद्ध भाडारकर[1] ने निर्णय किया कि भवभूति ने स्वय अपनी मूलप्रति का शोधन किया होगा । इसी प्रकार टोडर मल[2] ने महावीरचरित के सबंध मे कहा है।

शोधन-कार्य तीर्थस्थानो पर बडी सुगमता से हो सकता था । कई धनिक अपने विद्वान् मित्रो के साथ अपनी प्रतियो को भी तीर्थों पर ले जाते थे । वहां

१ भांडारकर सपादित मालतीमाधव, भूमिका पृ० ६।

२. टोडर मल संपादित महावीरचरित, भूमिका पृ० ८-९।

इन को अपनी पुस्तकें शोधने का अवसर मिलता था क्योंकि इन स्थानो पर विद्वानों का समागम होता था।

विद्या-प्रेमी राजाओं द्वारा नियुक्त विद्वान् भी शोधन किया करते थे।

सहायक सामग्री

किसी रचयिता की कृतियां पूर्ण रूप से अपनी नहीं होतीं। इस मे संदेह नहीं कि वह उस रचयिता के व्यक्तित्व की छाप लिए रहती हैं, परंतु उन की भाषा, भाव, शैली आदि उस के पूर्ववर्त्ती ग्रंथकारो से प्रभावान्वित होते हैं। उन पर तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियो का प्रभाव भी यथोचित रूप मे होता है। इसी प्रकार उस रचयिता का प्रभाव उस के परवर्त्ती ग्रंथकारों पर भी पड़ता है। अत: इस संसार मे कोई रचयिता एकाकी नहीं होता। इसलिए उस रचयिता की कृतियों की अपनी प्रतिलिपियो के अतिरिक्त कुछ सामग्री ऐसी भी प्राप्त हो जाती है जो उस रचना विशेष के अवतरण, भाषांतर, टीका-टिप्पण इत्यादि के रूप मे हो सकती है। इसको हम **सहायक सामग्री** कहते हैं क्योंकि यह मूल ग्रंथ के संपादन मे सहायता मात्र होती है। इस के आधार पर संपादन नहीं किया जाता।

यदि कोई रचयिता ऐसा हो जिस का दूसरो मे संबंध स्थापित न हो सके, और उस की कृति केवल प्रतियों के आधार पर ही हमे उपलब्ध हो, तो कोई नहीं जान सकता कि उसकी प्राचीनतम प्रति के लिपिकाल के पूर्व उस रचना की क्या अवस्था थी। उस की प्रतियों का निरीक्षक केवल इतना बतला सकता है कि अमुक रचना की उपलब्ध प्रतियां किसी काल, देश और लिपि विशेष के प्रथमादर्श के आधार पर लिखित हैं। वह नहीं कह सकता कि उपलब्ध प्राचीनतम प्रति के लिपि-काल से बहुत पहले उस कृति की क्या दशा थी, वह कौन कौन से देश मे प्रचलित थी, आदि। संपादक सहायक सामग्री के आधार पर उस रचना के इतिहास का अनुमान कर सकता है।

यह सहायक सामग्री निम्नलिखित रूपों मे प्राप्त हो सकती है—

उद्धरण—

पुस्तक लिखते समय, ग्रंथकार अपने सिद्धांत की पुष्टि के लिए अन्य पुस्तकों से समान पंक्तियां ज्यों की त्यों ग्रहण कर लेता है; इन को उद्धरण या अवतरण कहते हैं।

उद्धरण प्राय: सारे साहित्य मे मिलते हैं और काव्य, व्याकरण छंदस् आदि

पारिभाषिक साहित्य में प्राचुर्य से मिलते हैं। पारिभाषिक ग्रंथों के रचयिता प्राचीन सिद्धांतों के विशद विवेचन तथा आलोचन के लिए और अपने नियमो को समझाने के लिए उदाहरण रूप मे पूर्ववर्ती मौलिक ग्रंथो से पाठ उद्धृत करते हैं। परंतु यह आवश्यक नहीं कि जिस लेखक या ग्रंथ से पाठ उद्धृत किया हो उस का नाम दिया हो—प्राय बिना नाम के ही उद्धरण मिलते हैं।

उदाहरण—बृहद्देवता का लगभग पांचवां भाग षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी की टीका में, सायण ने अपने भाष्यो मे और नीतिमञ्जरी मे उद्धृत किया गया है। इनकी सहायता से मॅक्डॅानल ने बृहद्देवता के कई पाठों का निश्चय किया जो कि वैसे संदिग्ध रह जाते, कही कही पाठ-सुधार भी किया है, जैसे—(अध्याय ५, श्लोक ३४) "ददौ च रौशम" के स्थान पर *fh* प्रतियो मे "ददौ न रौशनो", *b* मे "ददै गगो रौशनौ", *r* मे "ददौ तदौ शनौ", और *m* मे "ददौ तदाशनौ" पाठ थे और नीतिमंजरी (५, ३०, १५) के आधार पर उपर्युक्त पाठ निश्चित किया गया। (अ० ७, श्लो० ६८) 'अयमन्त.परिष्यसु.' के स्थान पर प्रतियो मे भिन्न भिन्न अपपाठ थे जिन को सायण (ऋग्० १०, ६०, ७) के अनुसार सुधारा है। इन्ही के आधार पर बृहद्देवता की बृहद्धारा B के कई स्थलों को मॅक्डॅानल ने मौलिक माना है और उन का पुनर्निर्माण किया है। जैसे अ० ४ श्लो० २३, ५, ५६-५८, ५, ६५, ६६, ६, ५२-५६, ७, ४२-४३, ७, ६५ आदि नीतिमजरी और सर्वानुक्रमणी की षड्गुरुशिष्यप्रणीता टीका मे मिलते हैं, अत इन मे मौलिकता हो सकती है।

उद्धरणों के विषय मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन ग्रथों में उद्धरण मिलते हैं वह तुलनात्मक रीति से सपादित हो चुके हैं या नहीं। यदि नही तो उन के पाठान्तरों को अवश्य देखना चाहिए। सभव है इन पाठातरो मे से ही कोई पाठ मौलिक हो। दूसरी बात यह है कि प्राचीन लेखक अन्य पुस्तको को प्राय. अपनी स्मृति से ही उद्धृत करते थे और उन को मूलपंक्ति से मिलाने का प्रयत्न न करते थे। अत: ऐसे उद्धरणो का महत्त्व इतना अधिक नही। परतु सिद्धात ग्रथो म उद्धरणो को सावधानता से ग्रहण किया जाता था, इसलिए यह अधिक विश्वसनीय होते हैं।

सुभाषित-संग्रह—

यदि संपादनीय कृति के कुछ अवतरण किसी सुभाषित-सग्रह मे मिलते हो, तो वह सग्रह सपादन मे यथोचित सहायता दे सकता है, क्योंकि वह संग्रह प्रस्तुत ग्रंथ की उपलब्ध प्रतियो से प्राय. अधिक प्राचीन होता है। कुछ सुभाषित संग्रह यह हैं—संस्कृत—कवीन्द्रवचनसमुच्चय (दशवीं शताब्दी विक्रम),

श्रीधरदास की सदुक्ति (सूक्ति) कर्णामृत (वि० सं० १२६२); जल्हण की सदुक्तिमुक्तावली (वि० सं० १३०४), शार्ङ्गधरपद्धति (वि० स० १४२०) आदि।

प्राकृत—हाल की सत्तसई; मुनिचन्द्र का गाथाकोश (वि० स० ११७६), जयवल्लभ का वज्जालग्ग, समयसुन्दर की गाथासहस्री (वि० स १६८७) आदि।

भाषांतर या अनुवाद—किसी शब्द वाक्य या पुस्तक के आधार पर दूसरी भाषा में लिखे हुए शब्द, वाक्य, पुस्तक आदि को अनुवाद या भाषान्तर कहते हैं।

अनुवाद से अनूदित और अननूदित से अनुवाद ग्रंथों के सपादन में पर्याप्त सहायता मिलती है। जब यह अनुवाद प्रस्तुत ग्रंथ की उपलब्ध प्रतियों से प्राचीन हो, तो यह सपादन-सामग्री का एक अनुपेक्षणीय और महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है।

बौद्ध धर्म की महायान शाखा का साहित्य बहुधा संस्कृत भाषा में था। इस के अनुवाद चीनी तथा तिब्बती भाषाओं में अति प्राचीन काल में हो चुके थे। अतः इन अनूदित ग्रंथों के सपादन में अनुवादों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है जैसे जॉनस्टन ने अश्वघोष के बुद्धचरित में किया है। इसी प्रकार महाभारत के ग्यारहवीं शताब्दी में किए हुए भाषा अनुवाद तलगू तथा जावा की भाषा में मिलते हैं। इन का प्रयोग महाभारत के सपादन में पूना वालों ने किया है। कई स्थानों पर इन अनुवादों ने सपादकों द्वारा अगीकृत पाठ को प्रामाणिक सिद्ध किया है[1]।

अनूदित परंतु अब अनुपलब्ध रचना के पुनर्निर्माण में अनुवाद ही का आश्रय लेना पड़ता है जैसे कुमारदास का जानकीहरण जो चिरकाल से भारत में लुप्त हो चुका था। इस का संस्कृत संस्करण लंका की भाषा (Simhalese) के शब्दशः अनुवाद के आधार पर निकला था। अश्वघोष के बुद्धचरित के सर्ग ६ के २६-३७ श्लोकों का कुछ अंश त्रुटित हो गया था। इसका पुनर्निर्माण जॉनस्टन ने तिब्बती अनुवाद के आधार पर किया है[2]।

टीका, टिप्पनी, भाष्य, वृत्ति आदि—

टीकाओं में प्रायः प्रतीक (ग्रंथ की पंक्ति या श्लोक का अंश) को उद्धृत करके उस का अर्थ और मूल व्याख्या दी जाती है। इन प्रतीकों से उस ग्रंथ के तात्कालिक पाठों का पता चल सकता है। कई बार टीकाकार अपने समय में उपलब्ध प्रतियों का मिलान कर के सम्यक् या समीचीन पाठ ग्रहण कर लेते थे और

---

१ देखो महाभारत उद्योगपर्वन् (पूना १९४०), भूमिका पृ० २२।

२ डा० ई० एच० जॉनस्टन सपादित बुद्धचरित (लाहौर, १९३५), भूमिका पृ० ८।

दूसरे पाठ का निर्देश कर देते थे। कहीं कहीं तो त्यक्त पाठ के साथ असम्यक्, अपपाठः, प्रायश पाठः, अर्वाचीनः पाठः, प्रमादपाठ आदि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है[1]। कई बार टीकाकार पाठ की समीचीनता को भी सिद्ध करते थे[2]।

संपादन में टीका आदि का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। जहां किसी प्रकरण पर टीका न मिलती हो वहां यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह प्रकरण प्रस्तुत ग्रंथ में था ही नहीं, क्योंकि हो सकता है कि टीकाकार ने उस को सुगम समझ कर छोड़ दिया हो। यदि वह प्रकरण कठिन हो तो ऐसा समझ लेने में आपत्ति नहीं। कणिकनीतिप्रकरण[3] पर देवबोध की टीका का अभाव है परन्तु नीलकंठ तथा अर्जुनमिश्र ने विस्तृत व्याख्या की है। यह प्रकरण है काफी कठिन और महाभारत की शारदा तथा काश्मीरी धाराओं में मिलता भी नहीं। इसलिए इस को प्रक्षेप मानने में दोष नहीं।[4] निरुक्त के दुर्गप्रणीत भाष्य में निरुक्त का पाठ अक्षरशः मिलता है, अतः इस से निरुक्त के पाठ-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है[5]।

सार ग्रंथ—

सार से मूल और मूल से सार ग्रंथ के संपादन में यथोचित सहायता मिलती है। काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र की भारतमंजरी महाभारत की काश्मीरी धारा का सारमात्र है, अतः यह ग्यारहवीं शताब्दी में काश्मीर प्रांत में महाभारत की क्या परिस्थिति थी इस पर प्रकाश डालती है। इसी कवि की रामायणमंजरी, अभिनंद का कादम्बरी-कथासार आदि अनेक सार ग्रंथ हैं।

अनुकरण ग्रंथ—

अनुकरण ग्रंथ और अनुकृत ग्रंथ एक दूसरे के पाठ-सुधार में प्रचुर सहायता देते हैं। क्षेमेंद्र ने पद्यबद्ध कादम्बरी लिखते समय बाण की कादम्बरी का अनुकरण किया है।

किसी श्लोक के अंतिम पाद या टुकड़े के आधार पर पूरा श्लोक बनाने को समस्या-पूर्ति कहते हैं। इस रीति से ग्रंथ भी बनाए जा सकते हैं। कालिदास के

---

१. महा० उद्योग० भू० पृ० १५ डा० लक्ष्मणस्वरूप संपादित निरुक्त (लाहौर, १९२०) भूमिका पृ० ४५।
२. पी० के० गोडे का लेख, वूलनर कोमेमोरेशन वाल्यूम (लाहौर, १९४०)।
३. महा० बम्बई संस्करण, पर्व १, अध्याय १४०, पूना संस्करण पर्व १, परिशिष्ट १, ८१।
४. महा० १, भूमिका पृ० ७५।
५. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित निरुक्त, भूमिका पृ० ४४।

मेघदूत काव्य की समस्या-पूर्त्ति के रूप मे जिनसेन ने एक स्वतंत्र ग्रंथ 'पार्श्वाभ्युदय' की रचना की।

समान पाठ—

महाभारत, पुराण आदि कई ग्रथ किसी व्यक्ति विशेष की कृति नहीं प्रत्युत किसी संप्रदाय, आम्नाय या शाखा के गुरुओं की कई पीढ़ियों द्वारा निर्मित हुए हैं। ऐसे ग्रथों मे प्राय: समान वृत्त, पाठ, प्रकरण आदि मिलते हैं जो संपादन मे पर्याप्त सहायता देते हैं। महाभारत (पर्व १, ६२-) मे आया हुआ शकुंतलोपाख्यान पद्मपुराण मे भी मिलता है। पुराणो मे आए हुए समान प्रकरणों को किर्फ़ल (Kirfel) ने 'डास पुराणं पंच लक्षणं मे सगृहीत किया है।

किसी ग्रंथकार के अन्य ग्रंथ—

नीचे उद्धृत किए गए संदर्भ से यह स्पष्ट हो जाए गा कि किसी रचना के सपादन मे उसी ग्रंथकार के अन्य ग्रथों का पर्यवलोकन कैसे सहायता देता है।

" गोस्वामी (तुलसीदास) जी की वाणी का तथ्य जितना उन्हीं के ग्रथो द्वारा समझा जा सकता है उतना और किसी प्रकार से नहीं। किसी भी शब्द, वाक्य या भाव का गोस्वामी जी ने ऐकान्तिक प्रयोग नहीं किया है। किसी न किसी दूसरे स्थान से उस की पुष्टि, उस का समर्थन और स्पष्टीकरण अवश्य होता है। यदि ध्यानपूर्वक मिलान किया जाय तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने सभी प्रकरणों का उपक्रम और उपसंहार बड़ी ही सुंदरता से किया है। एक प्रकार के वस्तुवर्णन मे भिन्न भिन्न स्थलों पर शब्दो की कुछ ऐसी समानता रख दी है कि जिन पर दृष्टि न रखने से लोग भटक जाते हैं। कही कहीं तो एक ग्रंथ का भाव दूसरे ग्रथ की सहायता से अधिक स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए नीचे रामचरितमानस के कुछ स्थल दिए जाते हैं जहां मिलान न करने के कारण लोगो को धोखा हुआ है और पाठ मे गडबडी की गई है।

(१) सकइ उठाइ सरासुर मेरु। सोउ तेहि सभा गएउ करि फेरु।

१।२९१।७

सर+असुर=बाणासुर—इस अर्थ को न समझ कर बहुत लोगों ने 'सुरासुर' पाठ कर दिया है। यदि निम्नलिखित अवतरणों पर ध्यान दिया गया होता तो 'सरासुर' ऐसा सुदर आलकारिक शब्द न बदला जाता।

रावन बान महा भट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे।

जिन के कछु बिचार मन माही। चाप समीप महोप न जाहीं।

१।२४६।२

रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा।

१। २५५। ३

(२) ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई।

२। १५१। ५

'ओर निबाहेहु' का अर्थ होता है अंत तक निबाहना। इस का पाठ लोगों ने 'और निबाहेहु' वा 'अउर निबाहेहु' बदल दिया है। निम्नलिखित अवतरणों पर ध्यान न देने से यह भूल हुई है।

सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू। २। २३। ६

प्रनतपाल पालहिं सब काहू। देव दुहू दिसि ओर निबाहू। २। ३१३। ४

(पद-पद्म गरीब निवाज के।)

देखिहौं जाइ पाइ लोचन फल हित सुर साधु समाज के।

गई बहोरि ओर निरबाहक साजक बिगरे साज के॥

गीतावली (सुंदर कांड) पद सं० २६

(मों पै तो न कछू ह्वै आई।)

ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यौ लषन सो भाई॥

गीतावली (लंका कांड) पद सं० ६

.. ..

सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभय पद ओर निबाहै।

करि आई, करिहैं करती हैं तुलसीदास दासनि पर छाहैं॥

गी० (उत्तर कांड) पद सं० १३

दुखित देखि संतन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ।

तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहूँ।

विनयपत्रिका पद सं० २७५

... .

(५) सोइ सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपाल रघुबीर।

भुवन भुवन देखत फिरौं प्रेरित मोह समीर॥ ७। ८१

'समीर' पाठ लोगों ने बदल कर 'सरीर' कर दिया है। प्रेरणा करने का गुण समीर का है, यथा—

पुनि बहु बिधि गलानि जियमानी । अब जग जाइ भजौं चक्रपानी ।
ऐसेहि करि बिचार चुप साधी । प्रसव पवन प्रेरेउ अपराधी ।
प्रेरेउ जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तै सह्यौ ।
सो ज्ञान ध्यान बिराग अनुभव जातना पावक दह्यौ ।

विनयपत्रिका पद १३६ (५)"

तीसरा अध्याय

प्रतियों का मिलान

संपादक को चाहिए कि जो सामग्री मिल सकती हो उसे इकट्ठा करे । प्रतिलिपियों का सूक्ष्म अवलोकन करे । उन की व्यक्तिगत विशेषताओं की देख भाल करे। यह देखे कि उन की कौन कौन सी बात मौलिक या प्राचीनतम पाठ के निर्णय मे सहायता दे सकती है । इस प्रकार की जाच को प्रतियों का **मिलान** कहते हैं। मिलान से हमे यह पता चलता है कि अमुक प्रति की कौन कौन सी बात उस के आदर्श मे विद्यमान थी । सब प्रतियों का निरीक्षण और मिलान कर चुकने पर प्रस्तुत ग्रंथ के मौलिक अथवा प्राचीनतम पाठ का निश्चय करने के निमित्त सपादक प्रामाणिक और विश्वसनीय सामग्री को जुटा करे । वह इस सामग्री का बार बार सूक्ष्म अवलोकन करे और इसी के आधार पर मूलपाठ का निश्चय करे ।

प्रत्येक प्रति का साधारण रूप किसी पाठ के निश्चय मे विशेष सहायता देता है। किसी ग्रथ की 'क' और 'ख' दो प्रतिया हैं । इस के परस्पर मिलान से यदि ज्ञात हो कि जहा इन मे पाठभेद है वहा 'ख' की अपेक्षा 'क' मे शुद्ध मौलिक एव सभव पाठों की संख्या अधिक है, तो 'क' के पाठ 'ख' के पाठो से प्राय: अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय होंगे ।

परतु यह नियम सर्वथा सिद्ध नही क्योंकि जो प्रतियां प्राय: अशुद्ध होती हैं उन मे भी कहीं कहीं शुद्ध और मौलिक पाठ हो सकते हैं । और शुद्ध पाठो वाली प्रतियों मे अशुद्ध और दूषित पाठ मिलते हैं । पिशल के शाकुंतल (दूसरा सस्करण) मे प्रयुक्त B प्रति प्राय: अशुद्ध पाठों से भरी पडी है जैसे 'आयुष्मान' के स्थान पर निरर्थक 'आमुष्मान्' आदि । इस मे मौलिक पाठो की कमी है । फिर भी इस मे कही कहीं

---

१ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वैशाख १९९९ मे 'शभुनारायण चौबे' का 'मानस-पाठ भेद' नामक लेख, पृ० ३-७ ।

मौलिक पाठ मिलते हैं जैसे १, ४/५ मे 'अह्गिदु' के स्थान पर इस प्रति मे 'अह्अरीअदु' पाठ है जो शाकुन्तल की दक्षिणी धारा मे भी मिलता है । अत यह पाठ मौलिक है ।

यह देखना आवश्यक है कि किसी प्रति मे सारा पाठ समान रूप से लिखा गया है या कि नही। हो सकता है कि एक ही प्रति के भिन्न भिन्न भाग भिन्न भिन्न आदर्शों के आधार पर एक या अनेक लिपिकारों द्वारा लिपिकृत हो । यह प्रायः महाभारत, पुराण, पृथ्वीराजरासो आदि बृहत्काय ग्रथो मे अधिक सभव होता है। इस मे सारी प्रति की विश्वसनीयता और प्रामाणिकता समान नही रहती । ऐसी परिस्थिति मे भिन्न भिन्न भागों की विश्वसनीयता का जुदा जुदा निर्णय करना पड़ता है। कई बार ऐसा होता है कि आदर्श के कुछ पत्रे गुम हो चुके होते है या उस मे कुछ पाठ उपलब्ध न हो तो भी लिपिकार इन लुप्त अशो को किसी दूसरे आदर्श के आधार पर पूरा कर सकता है। इस से भी सारी प्रति की विश्वसनीयता एक सी नही रहती ।

देखने मे आता है कि प्रतिलिपि हम तक अपने असली रूप मे नही पहुचती। प्राय इस मे अशुद्धियो को दूर करने का प्रयत्न किया होता है। इस के पाठ को काटा छाटा होता है। यह शोधन स्वय प्रति का लिपिकार, रचयिता या कोई अन्य विद्वान करता था। यदि एक ही प्रति को कई शोधकों ने शुद्ध किया हो तो भिन्न भिन्न शुद्धियों की विश्वसनीयता मे अतर होगा। कई बार तो ऐसा भी होता है कि शोधक अपनी ओर से तो विद्वत्ता दिखलाने का प्रयत्न करता है परन्तु वास्तव मे वह शुद्ध पाठ को अशुद्ध कर देता है। इसलिए हमे भली प्रकार जान लेना चाहिए कि प्रति मे कौन कौन से हाथों ने काम किया है। इसी लिए इस बात का निर्णय करना भी आवश्यक है कि शोधन से पहले प्रति मे क्या पाठ था। अकसर देखा जाता है कि शोधनीय प्रति मे जो पाठ अन्य प्रतियो से भिन्न हो, शोधक प्राय उस को हटा कर उपलब्ध प्रतियो के साधारण पाठ को रख देता है, चाहे पहला पाठ शुद्ध ही क्यो न हो।

लिपिकाल—

प्रतिलिपियों की तुलनात्मक विश्वसनीयता की जाच काफ़ी हद तक उन के लिपिकाल पर भी निर्भर होती है। इसलिए हमे संपादनीय ग्रथ की जितनी प्रतियां उपलब्ध हों उन को उन के लिपिकाल के अनुसार क्रमबद्ध कर लेना चाहिए । योरुप में प्रतियो का लिपिकाल प्राय. नहीं दिया होता, इसलिए उनका क्रम उनकी लिपि,

लेखन-सामग्री आदि के आधार पर निश्चित करना पड़ता है[1]। परंतु भारत मे यह दशा इतनी शोचनीय नहीं। यहां पर लिपिकाल अधिकतर प्रतियो मे दिया होता है। कई प्रतियों में आदर्श का काल भी दिया होता है। यदि कोई प्रति अंत मे त्रुटित या खंडित हो तो अवश्य इस के निश्चय में कठिनाई पड़ती है। तब लिपि, लेखन-सामग्री आदि के आधार पर इन का लिपिकाल निर्धारित किया जाता है। लिपिकाल प्रति के अंत मे दी हुई लिपिकार की प्रशस्ति या पुष्पिका मे दिया होता है जिस मे वह अपना व्यक्तिगत वृत्तांत भी देता है। प्रति जितनी प्राचीन होगी, उस की विश्वसनीयता भी उतनी ही अधिक होगी। परंतु कहीं कहीं यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि हो सकता है कि कोई अर्वाचीन प्रति 'ग' किसी अति प्राचीन आदर्श 'ख' के आधार पर लिखित हो। दूसरी और प्रतियां 'ज', 'झ', 'ञ' भी हो जो इस से हो तो प्राचीनतर, परंतु जिन का आदर्श 'छ' पहली प्रति के आदर्श 'ख' से कम प्राचीन हो। ऐसी अवस्था मे अर्वाचीन प्रति 'ग' दूसरी 'ज' 'झ' आदि प्राचीन प्रतियों से अधिक विश्वसनीय हो सकती है। यह बात निम्नलिखित चित्र से भली प्रकार स्पष्ट हो जावेगी।
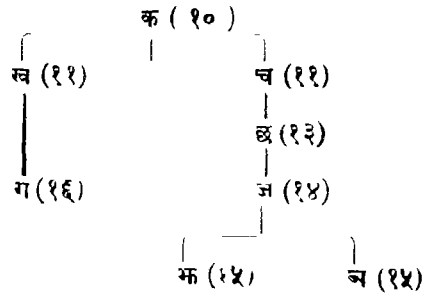
(नोट—इस चित्र मे 'क', 'ख' आदि अक्षर प्रतियो के नाम हैं और (१०), (११) आदि अंक प्रतियों के लिपिकाल की शताब्दियां है।)

यदि हर एक लिपिकार पाच प्रति शत अशुद्धियां करे, तो 'ग' ६०.२५ प्रति शत और 'ज' ८५.७५ प्रति शत और 'झ' तथा 'ञ' तो ८१.५ प्रतिशत शुद्ध होगी। इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'ज', 'झ', और 'ञ' की अपेक्षा 'ग' अधिक विश्वसनीय है।

लिपिकाल-निर्धारण

जब प्रतियो के लिपिकाल का निश्चित ज्ञान न हो, तो उन का परस्पर संबंध

---

१ हाल—कम्पैनिअन टु क्लासिकल टैक्स्टस, पृ० १२८।

निर्धारित करने में कठिनाई होती है। ऐसी परिस्थिति में इन के संबंध जानने के साधारण नियम यह हैं—

(१) पाठ-लोप और पाठ-व्यत्यय—जब अनेक प्रतियों में पाठ-लोप अथवा पाठ-व्यत्यय समान रूप से हो तो उन प्रतियों का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ होता है। इन में से लोप तो अधिक प्रामाणिक है क्योंकि यह बात प्राय. संभव नहीं होती कि अनेक प्रतियों में एक ही पाठ लुप्त हो गया हो। यह भी नहीं होता कि किसी प्रति में अन्य प्रतियों का मिलान करके पाठ लोप किया गया हो। इस से यह भी सिद्ध हो सकता है कि एक प्रति दूसरी प्रति का आदर्श है। इसी प्रकार अनेक प्रतियों में समान पाठ-व्यत्यय भी उन के लिपिकारों ने अपने आदर्श से ही लिया होता है।

(२) जब अनेक प्रतियों में विशेष पाठों का स्वरूप समान हो या उन प्रतियों की विशेषताएं समान हों, तो उन में परस्पर सम्बन्ध होता है। मॅकडौनॅल ने बृहद्देवता के सम्करण में जिन प्रतियों का प्रयोग किया उन में से '*h*', '*m*', '*m*'' और '*d*' परस्पर सबद्ध हैं क्योंकि उन सब के अन्त में "अमोघनन्दनशिक्षाया लक्षणस्य विनोदन शौनककारिकायामुक्तम्"—यह पाठ समान रूप से मिलता है जो अन्य प्रतियों में नहीं मिलता। इसी प्रकार इन में बृहद्देवता से ही सकलित 'अथ वैश्वदेवसूक्ते देवताविचार —भिन्ने सूक्ते वदेदव च" (१ ७०) आदि कुछ उद्धरण समान रूप में प्राप्त होते हैं[१]।

(३) जब आदर्श और प्रतिलिपि दोनों उपलब्ध हो तो उनके निरीक्षण से यह सबंध ज्ञात हो जाता है। यदि एक प्रति में कुछ ऐसी विचित्र अशुद्धियां हों जिन का समाधान किसी अन्य प्रति के अवलोकन से हो जाए तो दूसरी प्रति पहली का आदर्श होती है।

प्राय देखा जाता है कि दो प्रतियों का परस्पर सबंध इतना शुद्ध और सरल नहीं होता जितना कि हम ऊपर मानते रहे हैं। यह आवश्यक नहीं कि कोई प्रति किसी एक ही आदर्श के आधार पर लिखित हो। सभव है कि लिपिकार ने दूसरी प्रतियों की सहायता लेकर अपने पाठ बनाए हों। इसी कारण जो प्रतियां अतत. एक ही मूलादर्श से लिखित हों उन में भी प्राय: पूर्ण समानता नहीं होती। उन में कुछ न कुछ अंतर अन्य आदर्शों के कारण आ जाता है। इस से ज्ञात हुआ कि प्रतियों का परस्पर सबंध दो प्रकार का है—शुद्ध और सकीर्ण।

---

१. ए० ए० मॅकडौनल संपादित बृहद्देवता, भाग १, भूमिका पृ० १३–१४।

शुद्ध संबंध—

शुद्ध संबंध से हमारा अभिप्राय उस संबंध से है जो ऐसी दो प्रतियों में हो जो केवल एक ही आदर्श के आधार पर लिखित हों, या जब उन में एक आदर्श हो और दूसरी उस की प्रतिलिपि। इन प्रतियों के लिपि करने में आदर्श के अतिरिक्त अन्य किसी प्रति से सहायता नहीं ली होती।

उदाहरण—किसी रचना की सात प्रतियां उपलब्ध हैं जिनके नाम क, ख, ग, घ, ङ, च, छ हैं। यदि इन में से क और शेष ६ प्रतियों में कोई विशेष समानता न हो तो क इन सब से भिन्न होगा। यदि इन ६ प्रतियों में से ख, ग, घ, ङ परस्पर बहुत मिलती हों परंतु क और च, छ से काफी भिन्न हों, और इसी प्रकार यदि च, छ आपस में मिलती हों, तो हम कह सकते हैं कि क अकेली है, ख, ग, घ, ङ एक गण या वंश की है और च, छ दूसरे की। इन प्रतियों के निरीक्षण से ज्ञात हुआ कि ख, ग, घ, ङ एक ही काल्पनिक आदर्श "य" के आधार पर लिखित हैं और च छ अन्य किसी काल्पनिक आदर्श "र" के। हम पहले बतला चुके हैं कि लिखते समय प्रति में अशुद्धियां आ जाती हैं, अतः प्रतिलिपि की शुद्धि आदर्श की शुद्धि से कम होती है। क्योंकि "य" ख, ग, घ, ङ का आदर्श है इसलिए 'य' के पाठ इन के पाठों की अपेक्षा अधिक शुद्ध, अधिक प्राचीन और अधिक प्रामाणिक होंगे। ख, ग,घ,ङ के मिलान से "य" के पाठों का पुनर्निर्माण हो सकता है। यदि "य" उपलब्ध होता तो हम देख सकते थे कि "य" के पाठ वास्तव में ख ग घ ङ में से किसी एक प्रति के पाठों से अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक हैं। और हम ख ग घ ङ के लिपिकारों की कुछ अशुद्धियों का समाधान भी कर सकते थे। इसी प्रकार "र" के पाठ च, छ में से किसी एक प्रति के पाठों से अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक होंगे। यदि ख ग,घ, ङ प्रतियों में ख, ग परस्पर बहुत मिलती हों और कुल-मर्यादा भी न छोड़ती हों तो ख, ग किसी काल्पनिक आदर्श "ल" की प्रतिलिपियां होंगी। अतः "ल" के पाठ ख, ग में से किसी एक के पाठों से अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक होंगे।

यदि क और काल्पनिक आदर्श 'य,'"र"" का परस्पर संबंध स्पष्ट झलके तो वह किसी अन्य काल्पनिक आदर्श "व" पर आश्रित होंगे। अतः 'व" के पाठ क,' य,र," की अपेक्षा अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक होंगे। यह "व" इन सब प्रतियों का मूल-स्रोत होगा। इस को उपलब्ध सब प्रतियों का **काल्पनिक मूलादर्श** कहेंगे हैं। 'क, य, र," (ख, ग, घ,ङ,च,छ) के आधार पर "व" का पुनर्निर्माण हो सकता है।

निम्नलिखित चित्र इन प्रतियो के परस्पर संबध को सूचित करता है—
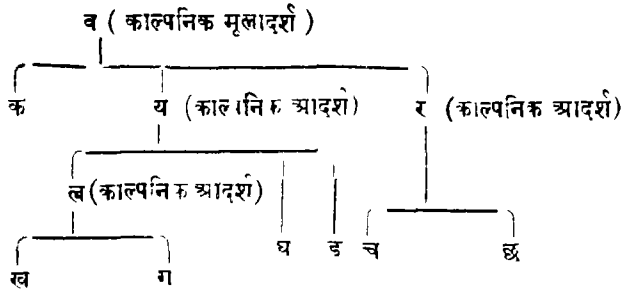
इस उदाहरण की सब प्रतियो का परस्पर सबध शुद्ध है—वह सब किसी एक काल्पनिक मूलादर्श के आधार पर लिखित है।

संकीर्ण संबंध

उपर्युक्त उदाहरण मे हमने कल्पना की थी कि "य" गण की किसी प्रति में "र" गण के विशेष पाठ नही आते और इसी प्रकार "र" गण की प्रतियो मे "य" गण के विशेष पाठ नहीं मिलते। परतु वास्तव मे ऐसा नहीं होता। किसी प्रति की पाठ-परम्परा उसके सब भागों मे समान नही होती। जब एक प्रति एक ही आदर्श के आधार पर लिखित नही होती प्रत्युत अनेक आदर्शों के आधार पर लिपिकृत होती है तो ऐसी अवस्था मे प्रतियों के परस्पर संबध को संकीर्ण कहते हैं। निम्नलिखित चित्र से यह स्पष्ट हो जाएगा।
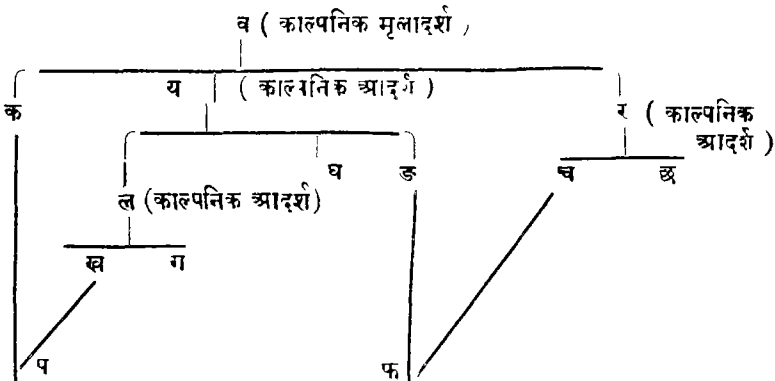
इस चित्र मे क, ख, ग, घ, ङ, च, छ का परस्पर सबध तो शुद्ध है। परतु क और ख के आधार पर प और ङ और च के आधार पर फ लिपिकृत हैं अत प, फ का परस्पर संकीर्ण सबंध है।

संकर के बढ़ने के साथ साथ उस का सुलझाना भी कठिन होता जाता है। इस से प्रतियों में शुद्धता एवं अशुद्धता का समावेश तो अवश्य होता है परंतु इस बात का निर्णय सरल नहीं कि किस प्रति में इसके कारण कितनी शुद्धता और कितनी अशुद्धता आई है। संकीर्ण प्रति को लिखते समय लिपिकार के सामने कई पाठांतर उपस्थित होते हैं। इन में से लिपिकार अपनी बुद्धि के अनुसार पाठ चुन लेता है। परन्तु लिपिकारों की विद्वत्ता प्राय. कम ही होती है, इसलिए उनका चुनाव सदा शुद्ध नहीं हो सकता जब कि विद्वान् शोधक भी पूरी तरह शोधन नहीं कर पाते। अत संकर प्राय पाठ-अशुद्धि को बढ़ाता है। फिर भी संकीर्ण प्रतियों की अपनी महत्ता होती है। जब किसी संकीर्ण प्रति के अनेक आदर्शों में से कोई एक आदर्श लुप्त हो चुका हो तो इसी संकीर्ण प्रति के आधार पर उस लुप्त आदर्श के पाठों का अनुमान किया जाता है। पंचतंत्र की पूर्णभद्रीय धारा में कुछ पाठ एवं स्थल ऐसे हैं जिन के आधार पर हर्टल[1] और इजर्टन उस में पंचतंत्र की एक लुप्त धारा की पुट मानते हैं।

पंचतंत्र की संकीर्ण धाराएं—पंचतंत्र की कुछ धाराए संकीर्ण संबंध का अच्छा उदाहरण हैं। पंचतंत्र पुनर्निमाण में इजर्टन[2] पंचतंत्र की निम्नलिखित धाराए मानता है —

१ तंत्राख्यायिका, साधारण अथवा प्रचलित पंचतंत्र तथा पूर्णभद्रीय पंचतंत्र।

२ दक्षिणी और नेपाली पंचतंत्र, तथा हितोपदेश।

३ सोमदेव का कथासरित्सागर और क्षेमेंद्र की बृहत्कथामंजरी, जो बृहत्कथा की दो भिन्न धाराए हैं।

(४) पहलवी भाषांतर।

इन धाराओं का चित्र इस प्रकार है।

---

१ हर्टल ने तंत्राख्यायिका में कई पाठ-सुधार किए, परंतु इजर्टन के मतानुसार वह नहीं होने चाहिए। उन में से वह कुछ सुधारों को ही ठीक मानता है। देखो पंचतंत्र रीकन्स्ट्रक्टिड भाग २, पृष्ठ २६०-२६३।

२ वही, अध्याय २।
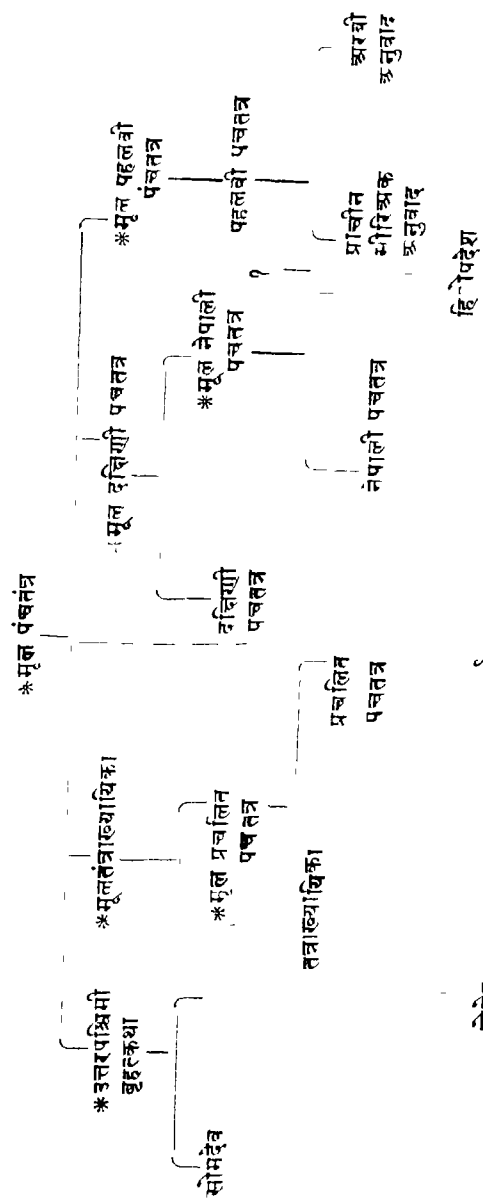
[नोट—यह चिह्न * काल्पनिक धाराओं का सूचक है।

क्षेमेंद्र संकीर्ण है, क्योंकि इस मे तंत्राख्यायिका की पुट स्पष्ट प्रतीत होती है। अतः जब इसके पाठ धारा नं० २ और ४ के पाठों से मिलते हैं तभी महत्त्वपूर्ण हैं; जब नं० १ से मिलते हैं तब नहीं। पूर्णभद्र का पंचतंत्र भी संकीर्ण है क्योंकि इस में पंचतंत्र की एक पांचवीं धारा से सहायता ली गई है जो अब स्वतंत्र रूप मे अलभ्य है। इस अलभ्य धारा का अन्य धाराओं से इतना ही संबंध है कि इन सब का मूल-स्रोत एक है। इस धारा को हर्टल[1] प्राकृतमयी मानता है क्योंकि पूर्णभद्र मे कई स्थल ऐसे हैं जो तंत्राख्यायिका और प्रचलित पंचतंत्र से भिन्न हैं और इन स्थलों की भाषा पर प्राकृत का प्रभाव स्पष्ट है। प्राकृत-प्रभाव के उदाहरण – वणिजारक (पृ० ७३, पंक्ति १४), स्वपिमि लग्नः (१०२, १८), अघट्टं खेटयमान (२०४, ३८) संप्रहार (१६६, २), चंद्रमती (१४८, ४), दंडपाशिक, दडपाशक के स्थान पर (१४७, १२ १६, १५१, २-६) आदि आदि। हो सकता है कि हर्टल का यह मत मान्य न हो और यह अलभ्य धारा जैन संस्कृत मे हो। क्योंकि जैनो द्वारा प्रणीत संस्कृत ग्रंथों की भाषा (जैन संस्कृत) के अध्ययन ने सिद्ध कर दिया है कि इस में प्राकृत-प्रभाव आदि कई अपनी ही विशेषताएं हैं जो साधारण संस्कृत में नहीं हैं[2]। परन्तु यह निश्चित है कि पूर्णभद्र का पंचतंत्र पंचतंत्र की पांचवीं धारा की सत्ता को प्रमाणित करता है और उस धारा के लिए इस का अपना महत्त्व है।

प्रतियां हम तक किस परिस्थिति में पहुंची हैं।

किसी ग्रंथ के सपादन मे उस की उपलब्ध प्रतिए हम तक किस परिस्थिति मे पहुची है, उन की सख्या और विशेषताए क्या है - इन सब बातों से भी सपादक के कार्य मे अतर पड़ जाता है। इन बातों के अनुसार निम्नलिखित परिस्थितियां उपस्थित होती हैं—

(१) जब किसी रचना की एक ही प्रति उपलब्ध हो।

(२) जब किसी रचना की समान पाठ-परम्परा वाली अनेक प्रतियां उपलब्ध हों।

(३) जब किसी रचना की भिन्न भिन्न पाठ-परम्परा की अनेक प्रतियां हों।

---

१ हर्टल संपादित पूर्णभद्र का पंचतंत्र, भाग २, १४, १६-२० पृ०।

२. फ़ेस्टश्रीफ़्ट जेकब वाकरनागल मे ब्लूमफ़ील्ड का लेख पृ० २२०–३०; हर्टल—ऑन दि लिट्रेचर आफ़ दि श्वेतांबर जैनज, लेखक द्वारा सपादित चित्रसेन-पद्मावतीचरित्र, भूमिका, पृ० २३–३०।

(१) एक प्रति—

जब संपादनीय कृति की केवल एक ही प्रति मिलती हो, तो संपादक का कर्तव्य है कि उस प्रति को ध्यान पूर्वक पढ़े और जहां तक संभव हो उस के शुद्ध रूप में ही उस के पाठों को उपस्थित करे। इस के लिए आवश्यक है कि वह उस का बार बार सूक्ष्म निरीक्षण करे, उस का पूरा पूरा परिचय प्राप्त करे। अधिकतर यह बात शिलालेखों और ताम्रपत्रों के विषय में लागू होती है। मध्य एशिया से बौद्ध पुस्तकों के जो अंश मिले हैं उन की प्राय: एक एक ही प्रति उपलब्ध हुई है। कई पुस्तकें भी एक ही प्रति के आधार पर हम तक पहुंची हैं, जैसे विश्वनाथ का कोशकल्पतरु, नान्यदेव का भारतभाष्य, पृथ्वीराजविजय आदि।

(२) समान पाठ-परम्परा की अनेक प्रतियां—

जब संपादनीय कृति की समान पाठ-परम्परा वाली अनेक प्रतियां विद्यमान हों, तो उन के पारस्परिक संबंध के परिज्ञान से पहले उन के आदर्शों और काल्पनिक मूलादर्श का पता लगाया जाता है।

(क) जब सब प्रतियों का मूलादर्श उपलब्ध हो तो संपादक का कार्य सरल हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में प्रतिलिपियों की उपेक्षा की जा सकती है। इस से संपादक को केवल एक मूलादर्श पर ही आश्रित होना पड़ता है। परंतु जहां प्रतिलिपि होने के पश्चात् मूलादर्श का कुछ भाग नष्ट भ्रष्ट हो चुका हो, तो हमें उस नष्ट भाग के लिए प्रतिलिपियों की सहायता लेनी पड़ेगी।

(ख) जब मूलादर्श विद्यमान न हो, परंतु उस की सत्ता के बाह्य प्रमाण मौजूद हों, तो पहले मूलादर्श का पुनर्निर्माण करना चाहिए। रायल एशियाटिक सोसायटी की बंबई ब्रांच की पृथ्वीराजरासो की प्रति नं B D २७४ के अवलोकन से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इस का आदर्श अमुक प्रति थी क्योंकि इस में कई स्थानों पर समयों की अंतिम प्रशस्तियों को लिखा हुआ है जो कि इस के आदर्श में विद्यमान थीं।

(ग) जब किसी मूलादर्श के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले बाह्य प्रमाण तो विद्यमान न हों परंतु प्रतियों की पाठ-समानता से अनुमान हो सके कि यह सब एक ही मूलादर्श के आधार पर लिखित हैं तो इस प्रकार के मूलादर्श को **काल्पनिक या अनुमित मूलादर्श** कहते हैं। ऋगर्थदीपिका के संपादन में प्रयुक्त P, D, M व्यपदेश की तीनों प्रतियों में से कोई भी एक दूसरे की प्रतिलिपि नहीं और न ही कोई

बाह्य प्रमाण यह सिद्ध करता है कि वह सब एक ही मूलादर्श की प्रतियां हैं। उन के पाठों की समानता के कारण ही उन को एक काल्पनिक मूलादर्श के आधार पर लिखित माना है[1]।

(३) भिन्न पाठ-परम्परा की अनेक प्रतियां—

जब संपादनीय कृति की भिन्न भिन्न पाठ-परम्परा वाली अनेक प्रतियां उपलब्ध हो, तो उन के पाठभेद के कारणों का विवेचन भी करना चाहिए जो इस तरह हो सकता है—

(क) क्या पाठ-भेद स्वयं रचयिता द्वारा हुआ है? यदि रचयिता स्वयं अपनी मूल प्रति का शोधन करे तो उस प्रति में कहीं कहीं दो दो या अधिक पाठ हो जावेंगे। इन में से एक तो मूल पाठ में होगा और दूसरे शुद्ध पाठ हाशिए में या पंक्तियों के बीच लिखे होंगे। इस मूल प्रति से प्रतिलिपि करते समय एक लिपिकार एक पाठ को ले सकता है, तो दूसरा दूसरे पाठ को। इस प्रकार वह प्रतियां एक आदर्श की प्रतिलिपियां होते हुए भी भिन्न भिन्न पाठ परम्परा को धारण करलेंगी। भवभूति[2] के विषय में भांडारकर और टोडरमल का मत है कि उस ने स्वयं मालती-माधव और महावीरचरित की मूल प्रतियों को शोधा है। इस कारण उपलब्ध प्रतियों में कहीं कहीं पाठ-भेद हो गए। मालतीमाधव के संपादन में भांडारकर ने ६ प्रतियों का प्रयोग किया है। यदि किसी पाठ विशेष के लिए इन प्रतियों के दो गण बनते हैं— K_1, K_2, N, O और A, B, Bh, C, D, तो किसी दूसरे पाठ के लिए इस प्रकार दो गण बन जाते हैं—A, B, C, D K, N, और Bh, K_2, O।

उदाहरण—मालतीमाधव अंक १। प० । १२—

कल्याणाना त्वमसि महसा भाजनं विश्वमूर्ते (A, B, D, K_1, N)

कल्याणाना त्वमिह महसा ईशिषे त्वं विधत्ते (Bh, K_2, O)

कल्याणाना त्वमसि महसा ईशिषे त्वं विधत्ते (C)

इस से ज्ञात होता है कि भिन्न भिन्न पाठों के लिए भिन्न भिन्न गण बन जाते हैं। इस का समाधान संकीर्ण संबंध के आधार पर हो सकता है, परंतु अधिक संभव यही है कि कवि ने स्वयं अपनी मूलप्रति का शोधन किया था क्योंकि समग्र ग्रंथ में प्रायः यही परिस्थिति देखने में आती है[3]। भवभूति द्वारा शोधित मूलप्रति से एक लिपिकार ने एक पाठ लिया तो दूसरे ने दूसरा और इस तरह पाठ भेद उत्पन्न हो गया।

---

१. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित भाग १, पृ० ४०।

२ देखो ऊपर, अध्याय २, टिप्पण नं० ५ और ६।

३ भांडारकर संपादित मालतीमाधव, भूमिका, पृ० ६।

(ख) क्या पाठ-परम्परा में भेद स्थान-भेद से उत्पन्न हो गया है? यह बात रामायण, महाभारत आदि बृहत्काय ग्रंथों के विषय में प्राय: सत्य होती है, विशेषत जब वह ग्रंथ समष्टि-रचित हो। महाभारत की उत्तरी, दक्षिणी, काश्मीरी, नेवारी (नेपाली), बंगाली आदि धाराएं प्रसिद्ध हैं। टोडरमल[1] ने महावीरचरित, की दो शाखाएं मानी हैं—उत्तरी और दक्षिणी। वह उत्तरी शाखा को स्वयं भवभूति द्वारा शोधित मानता है, और दक्षिणी को शोधन से पूर्व रूप में जो केवल पहले पांच अंकों तक ही था। फिर भी दक्षिणी शाखा में कहीं कहीं बहुत अच्छे पाठ मिलते हैं। टोडरमल के मतानुसार इस का कारण यह था कि दक्षिणी विद्वानों ने भवभूति के मूल पाठ का संशोधन कर लिया था क्योंकि दक्षिण कुछ काल तक विद्वत्ता का भारी केंद्र रहा।

(ग) क्या पाठ-भेद का कारण रचयिता या अन्य व्यक्तियों द्वारा शोधन के अतिरिक्त कुछ और है? कई बार मूलादर्श में अनेक पाठ स्थित होते हैं। जैसे किसी पाठक ने अपनी प्रति में आसानी के लिए शब्दार्थ और अन्य टिप्पण लिख लिए—इस तरह उस प्रति में एक पाठ के स्थान पर दो दो या तीन तीन पाठ मालूम पड़ेंगे या दो दो समानार्थ शब्द इकट्ठे मिलेंगे, जिस से पुनरुक्ति हो जाएगी। यदि यह प्रति प्रतिलिपियों के लिए आदर्श बने तो पाठ-भेद का कारण बन जाएगी।

(घ) लोप, प्रक्षेप, संक्षेप, परिवर्तन आदि से भी किसी रचना की पाठ-परम्पराओं में भेद पड़ सकता है।

चौथा अध्याय

प्रतियों में दोष और उन के कारण

संपादनीय कृति के संबंध में उपलब्ध सामग्री के सूक्ष्म अवलोकन और मिलान से प्राय: इस बात का परिज्ञान प्राप्त होता है कि कौन कौन सी सामग्री लिपिकाल तथा अन्य विशेषताओं के कारण विश्वसनीय है। इसके आधार पर प्राचीनतम पाठ का पुनर्निर्माण किया जासकता है। यह पुनर्निर्मित पाठ रचयिता की मौलिक कृति के काफ़ी निकट होता है। इसमें कुछ पाठ ऐसे रह जाते हैं जो अपने मौलिक रूप में नहीं होते। इन पाठों की संख्या रचना विशेष के विषय, भाषा आदि और उस की प्रतियों के इतिहास के अनुसार न्यूनाधिक होती है। इन को साधारणतया 'दूषित पाठ'

---

१. महावीर चरित, भूमिका पृ० ६।

करते हैं। मौलिक पाठ में दूसरे पाठों का समावेश करने से पहले हमें यह सोचना चाहिए कि किसी प्रकार इन को शुद्ध किया या सुधारा भी जा सकता है। इस बात के लिए आवश्यक है कि उपलब्ध प्रतियों के दोषों और उन को पैदा करने वाले कारणों का निर्णय हो।

बाह्य दोष—

कुछ दोष ऐसे होते हैं जिन का संबंध प्रति के बाह्य रूप आदि से होता है[1]। प्रति के सतत प्रयोग से और नमी आदि के प्रभाव से प्रति की लिपि मद्धम पड़ जाती है और कई स्थलों में बिलकुल मिट जाती है। यदि प्रति पुस्तक रूप में है और ताड़पत्र, भोजपत्र, कागज आदि पर लिखित है, तो इस के पत्रों के किनारे त्रुटित हो सकते हैं। अतः पत्रों की पंक्तियों के आदिम और अंतिम भाग नष्ट हो जाते हैं। यदि प्रति के पत्र खुले हों तो इन में से कुछ गुम हो सकते हैं और कुछ उलट पुलट हो सकते हैं। शिलालेख भी ऋतुओं के विरोधी आघातों को सहते सहते घिस जाते हैं। अब इस तरह काफ़ी पाठ नष्ट हो चुका हो तो संपादक के पास इस के पुनर्निर्माण का कोई साधन नहीं। परंतु यदि इस के संबंध में सहायक सामग्री उपलब्ध हो तो इस का पुनर्निर्माण भी किया जा सकता है। प्रायः छोटी छोटी त्रुटियों को तो संपादक स्वयं ही ठीक कर लेता है।

आंतरिक दोष—

कुछ दोष उपलब्ध पाठ में ही उपस्थित होते हैं। इन दोषों का मुख्य कारण लिपिकार होता है, परंतु कहीं कहीं शोधक भी होता है। इन दोषों को जानने के लिए हमें चाहिए कि किसी विशेष देश, काल, लिपि, विषय आदि की उन प्रतियों का सूक्ष्म अवलोकन करें जिन के आदर्श भी विद्यमान हों और इन के आधार पर साधारण दोषों का विवेचन करें। इस से समान देश, काल, लिपि, विषय आदि की प्रतियों के दोषों का समाधान ठीक रीति से हो सकेगा।

---

[1] देखो—एयस्स य कुलिहियदोसो न दायव्वो सुयहरेहिं। किंतु जो चेव एयस्स पुव्वायरिसो आसि तत्थेव कत्थइ सिलोगो कत्थइ सिलोगद्धं कत्थइ पयक्खर कत्थइ अक्खरपंतिया कत्थइ पन्नगपुट्ठिय (या) कत्थइ बे तिन्नि पन्नगाणि एवमाइ बहुगंथं परिगलियं ति। महानिशीथसूत्र के एक हस्तलेख से—डिस्क्रिप्टिव कैटॅलॉग आफ़ दि गवर्नमेंट कालेक्शनज़ आफ़ मैनुस्क्रिप्ट्स डिपॉज़िटेड एट दि भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, भाग १७, २, पृ० ३२।

इन दोषों के कई भेद हैं—

(१) लिपि भ्रम—

प्रायः हर लिपि मे कुछ वर्ण और अक्षर ऐसे होते है, जिनकी आकृति मे भेद बहुत कम होता है। ऐसे समान वर्णों या अक्षरो को लिखते समय लिपिकार एक के स्थान पर दूसरे को लिख सकता है। आदर्श मे यदि ए० वर्ण या अक्षर हो तो लिपिकार उसके स्थान पर उसके समान आकृति वाले वर्ण अथवा अक्षर को समझ कर दूसरे को लिख सकता है। किसी लिपि मे कौन कौन से वर्ण या अक्षर समान आकृति वाले हैं, इस बात का ज्ञान लिपि विज्ञान के क्षेत्र मे सम्मिलित है। परतु यहा पर इस के कुछ उदाहरण देते हैं—

उदाहरण—देवनागरी मे प, य, घ, ध, ख, रव, भ, म आदि का विपर्यय हो सकता है। जैसे तुलसी-रामायण[1] १ । २८ । ३ ' भोरे ' ' मोरि '। जैनो द्वारा प्रयुक्त देवनागरी मे इन अक्षरों मे समानता है—च ब और च, त्थ और च्छ, थ और घ, ब्भ और ज्झ, द्ध, द्द, द्व, और द्व।

टोडरमल सपादित महावीर चरित—

त्थ, च्छ—'स्वस्थाय' (१, १) के स्थान E प्रति मे 'स्वच्छाय'।

ओ, आ—'महादोसो' (२, १३ । १४)[2] के स्थान पर B_{11} प्रति मे 'महादासो'

प, य—'वाक्यनिष्पद' (१, ४) के स्थान पर E, K, B_{11} प्रतियो मे '०निष्यद'।

ण, प—'कल्पापाय' (३, ४०) के स्थान पर Md, Mt, My प्रतियो मे कल्याणाय।

प्रस्तुत लिपि और भाषा का यथोचित ज्ञान न होने से भी लिपिकार अशुद्धिया कर सकता है, जैसे पंचतंत्र[3] की Bh प्रति मे 'भो बिला ३ ' (२१८, १२, १३) के स्थान पर ' भो बिल भो बिल भो बिल ' मिलता है। इस प्रति के लिपिकार को इस बात का ज्ञान न होगा कि यहा ' ३ ' स्वर के प्लुतत्व का निर्देश करना है और यहा

---

१ तुलसी-रामायण के उदाहरण नागरी प्रचारिणी पत्रिका ४७, १ के आधार पर हैं।

२ नाटक के गद्य भाग का सकेत उसके पूर्वापर श्लोकों की सख्या से किया है, जैसे २, १३ । १४ का अर्थ है दूसरा अक १३ और १४ श्लोकों के बीच का गद्य भाग।

३. हर्टल संपादित पूर्णभद्र का पचतत्र।

पर इस वाक्य मे प्लुति का प्रयोग 'दूराद्धूते च' (पाणिनि ८, २, ८४) के अनुसार दूर से बुलाने के लिए हुआ है। इस प्रति के आदर्श मे ' भो बिल ३ ' पाठ होगा जिस के स्थान पर 'भो बिल भो बिल भो बिल' लिख देना कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि ' २ ', प्रायः दुहराने के लिए आता ही है, जैसे ' भो २ ' ='भो भो '।

जब कोई प्रति एक लिपि के आदर्श पर से किसी अन्य लिपि मे लिखी गई हो, और आदर्श की लिपि मे प्रतिलिपि की लिपि के अक्षरो से मिलते जुलते परंतु भिन्न उच्चारण वाले अक्षर हों, तो उस प्रति मे ऐसे समान अक्षरों का उलट फेर काफ़ी हो सकता है।

उदाहरण—महाभारत आदिपर्व के शारदा आदर्श S' से देवनागरी मे लिपिकृत K. प्रति मे यह दोष प्रायः दृष्टिगोचर होता है क्योंकि शारदा और देवनागरी लिपियों के कुछ अक्षरो मे बहुत समानता है। जैसे—स,म (शा० सकुले 7 ना० मंकुले) ,त, उ और थ य (शा० तथा 7 ना० उपा) , ऋ, द (शा० ऋष्या 7 ना० दृष्या) , म, श (शा० प्रकाम 7 ना० प्रकाश), च, श (शा० पाचाली 7 ना० पाशाली), त, तु (शा० अतम्बर 7 ना० आतु०) , त्त, तु (शा० सत्तम: 7 ना० सतुम) आदि।[1]

इसी प्रकार जैन देवनागरी के आदर्श मे प्रचलित देवनागरी मे लिखते समय य के स्थान पर त, क्ख के स्थान पर रक आदि हो जाते है।

इस सरणी का अनुसरण करते हुए किसी लिपि के समान आकृति वाले अक्षरों की, और भिन्न भिन्न लिपियों के परस्पर समान अक्षरों की विस्तृत सूचियां तय्यार की जा सकती है।

(२) शब्द-भ्रम

यदि किसी भाषा मे कुछ शब्द ऐसे हों जो परस्पर मिलते जुलते हों परंतु जिन के अर्थ मे भेद हो, तो लिपिकार ऐसे शब्दों मे हेर फेर कर सकता है।

उदाहरण—तुलसी रामायण (१ । २६१ । ७) 'सरासुर' (=बाणासुर), २ ४, ६, ७, ८ प्रतियों मे 'सुरासुर'।

(३) लोप

लोप के मुख्यतया दो कारण होते हैं—

(क) लिपिकार की असावधानता और लेख प्रमाद—इस कारण से तो किसी भी अक्षर, मात्रा शब्दांश शब्द, वाक्य, श्लोक, पृष्ठ आदि का लोप हो सकता है।

---

१. भूमिका पृ० ११।

उदाहरण—महावीरचरित २ ६ । १० अभिचरंति, E प्रति मे अचरंति है, (२, १३ । १४) महादोमा, B_0 प्रति मे महादामो है । चित्रसेनपद्मावती-चरित्र' (५४८) सजमसि य गारियं' Z मे 'य' का लोप है । इसी को Z प्रति मे श्लो० ३८३ छूट गया है ।

(ख) अक्षर, शब्द आदि की समानता से --

अक्षर-समानता के कारण दो समान अक्षरों मे से एक छूट जाता है ।

उदाहरण—महाभारत आदि (१०३, १२) 'अभ्यमूययाम्', K $D_n D_{1-5}$ में 'अभ्यमूयाम्' है । महावीरचरित (२, ७ । ८) 'लाललोअणो', I_1 मे 'लोलअणो', (३, १८ । १९) पाषण्डकाण्डीर, B_1 मे पाखण्डीर . (३, १६ । २०) प्रसवपासन, E मे प्रसवासन ।

शब्द-समानता के कारण लिपिकार की आख किसी शब्द से उस के समान-रूप वाले अन्य शब्द पर जा टिकती है जो उस से परे हो । इस से बीच के शब्द छूट जाते हैं । यह साधारण दोष है ।

उदाहरण—निरुक्त' मे ' सोदेवानसृजत तत्सुराणा सुरत्वम् । असोरसुरान-सृजत तदसुराणाम .. . ..' को लिखते समय C_1 प्रति के लिपिकार की आख प्रथम असृजत से आगे के असृजत पर पहुच गई । परिणाम-स्वरूप 'तत्सुराणा सुरत्वम् । असोर-सुरान छूट गया । (६, २२) स्थूर राय शताश्व कुरगस्य दिविष्टिषु । (RV VIII 4 19) स्थूर समाप्तिमात्रा स गानमवति को लिखने समय C_3 प्रति के लिपिकार की दृष्टि स्थूर' स तत्समान 'स्थूर ' पर जा पड़ा और मध्यस्थित 'राय शताश्व कुरगस्य दिविष्टिषु' का लोप हो गया ।

(४) आगम

मात्रा, अक्षर, शब्द आदि के बढ़ जाने को आगम कहते हैं ।

उदाहरण—महावीर चरित (१, २) ' महापुरुषसरम्भा ' B_0 मे ' महापुरुष-समारम्भो ' है ।

(५) अभ्यास—

किसी अक्षर, शब्दांश, शब्द वाक्य आदि के दुहराए जाने को अभ्यास कहते हैं।

---

१ लेखक द्वारा सपादित ।

२. डा० लक्ष्मण स्वरूप सपादित । भूमिका पृ० ४० ।

उदाहरण—महाभारत आदि० (५७, २१) 'हास्यरूपेण' K, प्रति मे हास्य हास्य रूपेण (हास्य हास्य रूपेण) का अशुद्ध रूप है।

निरुक्त २, २८ उतस्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि। क्रतु दधिक्रा... .. ' को लिखते समय CS प्रति के लिपिकार की दृष्टि 'क्रतुं' लिखने के पश्चात् फिर 'वाजी पर' चली गई और 'वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो' दुबारा लिखा गया। निरुक्त ६, ८ 'गृह्णाति कर्मा वा' Mı मे दुहराया गया है।

(६) व्यत्यय—

अक्षर, शब्द आदि के परस्पर उलट फेर को व्यत्यय कहते है।

उदाहरण—महावीर चरित ३,३७ 'ज्ञानेन चान्यो,' Mt, Md में 'ज्ञाने च नान्यो'। (१,१३।१४) 'मैथिलस्य राजर्षे', T_1 T_2 मे 'राजर्षे मैथिलस्य'। किलान्यत,T_1 अन्यत किल। ३, १८। १६ Mt 'अरे रे अनड्वन पुरुषाधम', Mg रे पुरुषाधम अनड्वन।

महाभारत आदि० (१, २३) उत्तरी शाखा मे 'महर्षे· पूजितस्येह सर्वलोके महात्मन.' =दक्षिणी शाखा मे 'महर्षे सर्वलोकेषु पूजितस्य महात्मन.'। (६२,१) उत्तरी० 'तत प्रतीपो राजा स' =द० 'प्रतीपस्तु ततो राजा'।

इसी प्रकार पंक्तियों का व्यत्यय भी हो सकता है। इस दोष की उत्पत्ति प्राय ऐसे होती है कि लिखते समय किसी लिपिकार से कुछ पंक्तियां छूट गई। उसने लेख मे कांट-छांट से बचने के लिए लुप्त पाठ को पन्ने पर अन्यत्र लिख दिया। इस प्रति को आदर्श मान कर लिखने वाला इस पाठ को उचित स्थान पर न रख कर अशुद्ध स्थान पर लिख सकता है। इस से उस प्रति को आदर्शभूत मानने वाली प्रतिलिपियों मे सदा के लिए पंक्तिव्यत्यय हो जाएगा।

उदाहरण—कर्पूरमंजरी[1] प्रथम अंक, T प्रति मे दूसरे और चौथे श्लोको का व्यत्यय है।

(७) समानार्थशब्दांतरन्यास—

किसी शब्द अथवा शब्द-समूह के स्थान पर समान अर्थ वाले किसी अन्य शब्द अथवा शब्द समूह के लिखे जाने को समानार्थशब्दांतरन्यास कहते हैं।

---

१ स्टेन कोनो संपादित, पृ० १।

उदाहरण—पंचतंत्र (१, ४) 'महिलारोप्य नाम नगरम्', A प्रति में 'प्रमदारोप्य नाम नगरम्' । महाभारत आदि पर्व¹ में रोष, कोप, क्रोध; ऋषि, मुनि, द्विज, विप्र, नरेश्वर, नरोत्तम, नराधिप, नरर्षभ, उवाच तदनन्तर, पुनरेवाभ्यभाषत; निःश्वसत यथा नागं, श्वसन्तमिव पन्नगम इत्यादि का व्यत्यय ।

इसी प्रकार विपरीतार्थशब्दान्तरन्यास भी हो सकता है ।

(८) हाशिए के शब्दों, टिप्पणी आदि का मूलपाठ में समावेश—

पढ़ते समय पाठक या शोधक अपनी प्रति के हाशिए में टिप्पण, अवतरण आदि लिख लेते थे । ऐसी प्रति को आदर्श मानकर लिखने वाला इनको भी मूलपाठ का अंग समझ कर पुस्तक में ही लिख सकता है ।

उदाहरण—संदेशरासक की प्रति (नं० १८१—८२ पूना की भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट) में कुछ छन्दों की परिभाषाएं मूल पाठ में ही लिखी हैं । हरिषेण विरचित धम्मपरिक्खा² की अम्बाले वाली प्रति में शब्दार्थों को मूल पाठ में मिला दिया है जो इस रचना की अन्य प्रतियों में नहीं है । संभव है यह हाशिए आदि से ही मूल पंक्ति में आए हों ।

(९) वाक्य के अन्य शब्दों के प्रभाव में किसी शब्द के रूप में परिवर्तन हो जाता है ।

उदाहरण—महाभारत आदि० (६६, ८) 'आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भ्यः स्मृतं बुधैः ।' T, प्रति में 'बुधैः' के प्रभाव से 'गुणवद्भिः' है । रामायण³ (१, १२, ८) 'त्वं गतिर्हि मतो मम', A₅ में 'हि मतिर्मम' । (१, १६, २) 'वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम्', A₇ (K₅) में 'सहस्रैश्च' पाठ है, जो 'वानराणां' के बहुवचन के प्रभाव से विकृत हुआ है ।

(१०) विचार-विभ्रम से—

अपने सामने के लेख्य पाठ को देख कर लिपिकार को कोई अन्य बात सूझ जाती है और वह लेख्य पाठ को भूल कर अपने विचारों को लिख देता है ।

उदाहरण—निरुक्त (२, २६) देवोऽनयत्सविता । सुपाणिः कल्याणपाणिः ।

१—भूमिका पृ० ३७ ।

२—इसके परिचय के लिए देखो 'जैन विद्या' अंक २, पृ० ५५–६२ [हिंदी]

३—रामायण के उदाहरण कात्रे से उद्धृत किए हैं ।

पाणिः पणायते पूजाकर्मणा । प्रगृह्य पाणी देवान्पूजयन्ति । तस्य वयं प्रसवे याम उर्वी ।' 'देवोऽनयत्सविता' ऋग्वेद (३, ३३, ६) का प्रथम पाद है। C_4 के लिपिकार को उत्तरपाद याद था अत उसने प्रथम पाद को लिखकर उत्तरपाद को ही लिख डाला। परिणाम स्वरूप C_4 प्रति मे 'कल्याणपाणि पूजयन्ति' लुप्त हो गया।

महाभारत उद्योग (१२७, २६) 'वश्येन्द्रियं जितामात्यम्' पाठ है। (१२७, २२ के 'विजितात्मा' और (१२७, २७) के 'अजितात्मा' की स्मृति से K, D, T, G 1, 3, 4 प्रतियों मे 'वश्येन्द्रिय जितात्मानम' पाठ हो गया।

(११) ध्वनि अथवा उच्चारण मे—

पृथ्वीराज रासो की कई प्रतियों मे अनुनासिकता का प्रयोग बहुत मिलता है जैसे नाम, राम . यह इस लिए हो सकता है कि इन प्रतियों के लिपिकार की ध्वनि मे अनुनासिकता होगी। इसी प्रकार कई प्रतियो मे 'व', 'ब' का भेद बहुत कम होता है कई प्रतियो मे केवल 'ब' मिलता है और कई मे केवल 'व'। बगाली मे 'व' नही इसलिए बगालियो द्वारा लिखित सस्कृत भाषा मे भी 'ब' का प्रयोग होता है, 'ज्ञ' का उच्चारण कई प्रदेशो मे 'ग्य' के समान है, अत: कई प्रतियों मे इसके स्थान पर 'ग्य' मिलता है जैसे—तुलसी रामायण (१, १९) ज्ञान, प्रति न० १, २, ३ में ग्यान है।

(१२) भाषा की अनियमितता मे—

प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी आदि भाषाए इतनी नियमित नही है जितनी सस्कृत। अत. इन की प्रतियो मे वर्ण विन्यास समान रूप मे नही मिलता—अर्थात् एक ही शब्द भिन्न भिन्न प्रकार से लिखा जाता है।

उदाहरण—तुलसी रामायण (१ । २७० । १) यहु, यह, येह, (१ । २७८ । १) दुइ, दोउ, (२ । ५०) दूसर, दूसरि, (२ । ११५ । १) सुना एउ, सुनाएहु सुनायेउ।

(१३) भाषा-व्यत्यय—

हिन्दी भाषा की प्रतियों मे मूल मे प्रयुक्त सस्कृत शब्दों का प्रान्तीय तथा तद्भव रूप मिलता है।

उदाहरण—तुलसी रामायण (१ । १० 'ग्राम्य' ४, ५ में ग्राम', (३।१०।१० 'कुमारी,' ७ में 'कुँआरी', आदि।

इसी प्रकार तद्भव तथा प्रांतीय शब्दों के स्थान पर संस्कृत रूप मिलते हैं।

उदाहरण—तुलसी रामायण (३ । ३२ । ५) 'सत' १, २, ३, ६ मे 'सत्य', (५ । ५४) विकटासि, ४ में विकटास्य आदि।

(१४) परिवर्तन

(क) जहा संधि संभव हो परतु मूलपाठ मे न हो, या जहा सधि संभव न हो परंतु आभास ऐसा हो कि सधि हो सकती है, वहां संस्कृत पुस्तको की प्रतियो मे प्रायः च, हि, अपि आदि पूरको के प्रयोग से सधि की प्राप्ति का अभाव किया मिलता है।

उदाहरण—महाभारत आदि० (२, १५०) 'यत्र राज्ञा उलूकस्य', K₁ V₁ B D (B₁ D₁ के अतिरिक्त) प्रतियो मे 'यत्र राज्ञा ह्युलूकस्य'। (२, २१२) 'तत आश्रम वामाख्य', कई प्रतियो मे 'ततश्चाश्रम०', 'ततश्चाश्रमवासश्च', पाठ हैं। महाभारत उद्योग० (३०, ६) उत्तरी धारा 'आचार्याश्च ऋत्विजो'—दक्षिणी धारा आचार्याश्चाप्यृत्विजो', (३३, ३५) उ० 'अनाहूत प्रविशति अपृष्टो'—द० 'अनाहूत संप्रविशेदपृष्टो', (८६, ६) द० 'मधुपर्क च उपहृत्य' उ० 'मधुपर्क चाप्युदकं च', (१३६, ३६) उ० 'कृष्णा अभिमन्यञ्चे'—द० 'कृष्णा तभिमन्यञ्चे'।

(ख) व्याकरण आदि के अशुद्ध प्रयोगो को सुधारना।

उदाहरण—महाभारत आदि—(२, १६०) 'ये च वर्तन्ति'—पाठांतर 'वर्तन्ते ये च', 'ये वर्तन्ते च', (२, ६३) 'हरण गृह्य सप्राप्ते'—पाठांतर 'गृहीत्वा हरणं प्राप्ते', 'दत्त्वा चाहरण तस्मै', (७, २६) 'पुलोमस्य'—पाठांतर 'पुलोम्नस्तु', 'पुलोम्नश्च', 'पुलोम्नोथ'।

महाभारत उद्योग० (८६, १६) उ० 'व्यथितो विमनाभवत्'—द० 'विमना व्यथितोभवत्'; (३८, ८) 'अपकृत्वा'—'अपकृत्य'।

(ग) आर्ष, असाधारण अथवा कठिन प्रयोगो का दूर करना।

उदाहरण—महाभारत उद्योग० (३४, ३८) उ० 'अपाचीनानि'—द० 'अपनीतानि'; (७, २८) उ० 'कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धान मेने जितं जयम्'——— द० 'कृष्णं चापि महाबाहुमामन्त्र्य भरतर्षभ'।

तुलसी रामायण (१ । ३४४ । ३) 'तनु धरि धरि दसरथ गृह आए'—३-८ मे '...आए', (३ । २१ । ५) 'मन डोला'—४, ५ 'मति डोली', (७ । ७५) अति सैसव—६ 'अति सै सब'; ४, ५ 'अतिसय सब', ७ 'अतिशय सुखद', (७ । ८६।७) 'अखिल बिस्व यह मोर उपाया—६ मे 'अखिल बिस्व यह मम उपजाया'।

(घ) छंदोभंग को दूर करना।

उदाहरण—महाभारत उद्योग० (२०, २०) 'विनता विषण्णवदनां'—पाठांतर 'विषण्णरूपां विनता', 'विनतां दीनवदनां', विषण्णवदना कद्रूः, (६२, ४) 'करवाणि किं ते कल्याणि'— किं ते करोमि कल्याणि', 'किं ते कल्याणि करवै', 'करवाणि किमद्याह'।

महाभारत उद्योग० (७, १३) द० मया तु दृष्टः प्रथम कुन्तीपुत्रो धनंजयः'—
उ० 'दृष्टस्तु प्रथमं राजन्मया पार्थो धनंजय' उ० 'अभिवादयन्ति वृद्धांश्च ;— द० 'अभिवादयते वृद्धान्', द० 'दयितोऽसि राजन्कृष्णस्य —उ० प्रियोऽसि... ..'।

(१५) प्रक्षेप—

किसी रचना मे जान बूझ कर पाठ बढ़ाने को प्रक्षेप कहते हैं। शब्द, वाक्य और श्लोक के प्रक्षेप से लेकर बड़े अवतरणों और सर्गों तक का प्रक्षेप दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण प्राय करके शोधक या पाठक होता है।

(क) किसी वस्तु की संख्या सूची में आधिक्य।

उदाहरण—निरुक्त (२, ६) B धारा मे 'वृत्रो व्रश्चनात्। नियतामीमयत् 'है। A धारा मे 'वृत्रो व्रश्चनात्। वृत्वा त्वा तिष्ठतीतिवा। त्वा क्षियतेर्निवासकर्मणः। नियतामीमयत् . ...' है।

(२, १३) B धारा मे 'सूर्यमादितेयमेवम्' है।

A धारा मे 'सूर्यमादितेयमदितेः पुत्रमेवम्' है।

महाभारत आदि० अध्याय ६४ मे दक्षिणधारा मे विद्याओं की सूची लम्बी कर दी है—

*५८६ 'शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः।
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभि॥
जल्पवादवितण्डज्ञैर्व्यासग्रन्थसमाश्रितै।
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम्॥'

(ख) किसी विशेष दृश्य आदि के प्रस्तुत वर्णन को विस्तृत करना।

उदाहरण—पृथ्वीराजरासो की कई प्रतियों मे युद्ध, विवाह आदि का वर्णन अन्य कई प्रतियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

महाभारत आदि०, परिशिष्ट १, ७८ मे युद्ध-वर्णन को विस्तृत किया है—उ० मे २ पंक्तियां, द० मे ११६ पंक्तियां हैं।

(ग) आख्यान, युद्ध, विवाह आदि को कई बार वर्णन करना।

उदाहरण—महाभारत आदि० द०मे कृष्णा और धृष्टद्युम्न के जन्म का अद्भुत वृत्तांत अध्याय १५५ और परिशिष्ट १,७८ में दुहराया है।

पृथ्वीराज रासो की कई प्रतियो मे पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों, आखेटों आदि का वर्णन बार बार किया है परन्तु अन्य प्रतियो मे यह वर्णन इतनी बार नहीं आते।

(घ) उचित स्थान पर सदुक्ति का प्रयोग करना। महाभारत आदि० की दक्षिणी धारा मे निम्नलिखित श्लोक है जो उत्तरी धारा मे नहीं है—

५६५* अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापेनावृतो मूर्खस्तेन आत्मापहारक।

६०५* पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।

११८६* पुत्र वा किल पौत्र वा कामाचिद् भ्रातर तथा।
रहसीह नर दृष्ट्वा योनिरुत्क्लिद्यत तत। आदि।

(ङ) सैद्धातिक अवतरणों का डालना।

उदाहरण—रामानुज[1] आम्नाय मे प्रचलित रामायण (R_1) मे ५, २७, २०-३२ मिलता है जो अन्यत्र नहीं मिलता।

(च) आदर्श के त्रुटित अशो को पूरा करने के निमित्त।

उदाहरण—बुद्धचरित की प्राचीन प्रति त्रुटित थी। इस मे प्रतिलिपि करते समय अमृतानद ने त्रुटित अशो को आप पूरा कर दिया[2]।

(छ) पूर्वापर विरोध को दूर करने के लिए।

उदाहरण—महाभारत आदि० (परिशिष्ट १,८०) = बम्बई सस्करण अ० १३६ मे युधिष्ठिर की युवराजपद पर नियुक्ति और अर्जुन का अपने गुरु से युद्ध करने का प्रायश्चित्त प्रक्षेप हैं।

(ज) नाटकों को रगमच पर खेलते समय नट नटी अपनी परिस्थिति के अनुकूल कुछ न कुछ परिवर्तन कर लेते थे। सभव है कि इसी कारण से कालिदास के शाकुन्तल के कई पाठ भेद हो गए हो।

---

१. कात्रे पृ० ६२।

२. जानस्टन सपादित बुद्ध-चरित, भाग १, भूमिका पृ० ८।

पाचवां अध्याय

पुनर्निमाण

उपलब्ध मूल और सहायक सामग्री के निरीक्षण और विवेचन से हम काल्पनिक मूलादर्श के पाठ का अनुमान कर सकते हैं। यही प्राचीनतम पाठ है जिस तक हम पहुंच सकते हैं। इस प्राचीनतम पाठ के स्वरूप को मालूम करना उस का पुनर्निर्माण कहलाता है। इस पुनर्निर्मित पाठ और रचयिता के मौलिक पाठ के बीच कई प्रतिलिपियों का अंतर हो सकता है जो अब विलुप्त हो चुकी हों। इन प्रतियों के लिपिकारों ने भी मौलिक पाठ में अवश्य विकार उत्पन्न किया होगा। इस लिए यह आवश्यक नहीं कि यह पाठ मौलिक पाठ से मिलता जुलता हो। प्रायः करके यह पाठ किसी भी उपलब्ध प्रति के पाठ से थोड़ा बहुत भिन्न होगा। हम निश्चित रूप से यह भी नहीं कह सकते कि यह पाठ सब से उत्तम है। परंतु यह उपलब्ध प्रतियों के पाठों से प्राचीन होगा क्योंकि यही तो इन सब का आधारभूत है। इस में लिपिकार की अशुद्धियों का और अप्रामाणिक शोधन का इतना स्थान नहीं, जितना कि उपलब्ध प्रतियों में होता है। पुनर्निर्मित पाठ और मौलिक पाठ के बीच इतने लिपिकारों और शोधकों का हस्तक्षेप नहीं जितनों का उपलब्ध प्रतियों के पाठ और मौलिक पाठ के बीच होता है क्योंकि काल्पनिक मूलादर्श या इस पुनर्निर्मित पाठ से उपलब्ध प्रतियों तक पाठ कई लिपिकारों तथा शोधकों के हाथ से गुजर कर आता है। इन्हों ने प्रस्तुत पाठ पर अपनी छाप छोड़ी होती है। इन के अस्तित्व का ज्ञान प्रतियों के निरीक्षण से प्राप्त हो जाता है। अतः यह पाठ उपलब्ध प्रतियों के पाठों से अधिक शुद्ध होगा और मौलिक के अधिक निकट होगा।

पुनर्निर्माण की विधि—

काल्पनिक मूलादर्श के पुनर्निर्माण की विधि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी।

एक संपादनीय ग्रंथ की आठ प्रतियां उपलब्ध हुईं—क ख ग घ ङ च छ ज। इन के पाठों के विवेचन और मिलान से पता चला कि इन में से क ख ग घ ङ प्रतियों का एक गण बनता है और च छ ज का दूसरा गण। अर्थात् क ख ग घ ङ काल्पनिक आदर्श "य" के आधार पर लिखित है और शेष "र" के। इन के निरीक्षण से पता लगा कि "य" गण के तीन उपगण हो सकते हैं—क ख, ग घ,

और ङ । ङ अकेला है । क ख का काल्पनिक आदर्श " ल " है और इन मे से भी ख क की प्रतिलिपि है । और ग घ का काल्पनिक आदर्श "व" है । इन सब प्रतियों का मूल स्रोत काल्पनिक मूलादर्श " श " है । इन प्रतियो के परस्पर सबंध का चित्र इस प्रकार बनता है ।
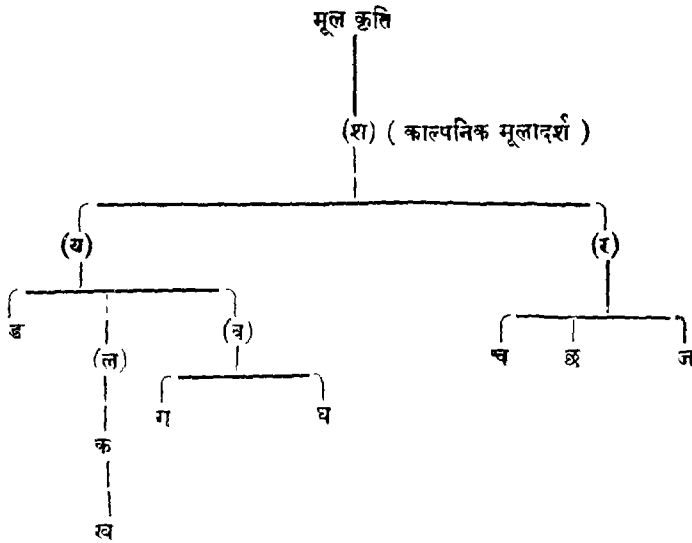
इस उदाहरण मे सब प्रतियां को असकीर्ण माना है । यदि यह निश्चित है कि ख क की प्रतिलिपि है, तो पाठ-पुनर्निर्माण मे इस की उपेक्षा हो सकती है । इस का प्रयोग केवल उन स्थलो मे किया जाएगा जहां ख के लिपिकृत होने के बाद क त्रुटित हो गया हो । अत: अब क ग घ ङ च छ ज और उचित स्थल पर ख) प्रतियो के आधार पर काल्पनिक मूलादर्श "श' का पुनर्निर्माण करना है ।

(१) जो पाठ सब प्रतियो मे समान रूप से विद्यमान है, वही "श" का पाठ है । यह संपादन का मूल सिद्धान्त है कि सब प्रतियां का समान पाठ मौलिक पाठ है ।

(२) यदि "य" गण मे एक पाठ है और "र" गण मे दूसरा, तो हम निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि "श ' का पाठ कौन सा था । यह दोनो पाठ मौलिक हो सकते हैं । हम किसी पाठ को केवल इस लिए मौलिक नही मान सकते कि उस पाठ को धारण करने वाली प्रतियां की सख्या न धारण करने वाली प्रतियां से अधिक है, और न ही इस लिए कि "य" गण के उपगणो मे वह पाठ समान रूप से मिलता है ।

'प्रतियों की संख्या नहीं देखी जाती, उन की विश्वसनीयता की जांच की जाती है'—यह संपादन का अन्य मूल सिद्धांत है।

उदाहरण—मालतीमाधव के संस्करण में भांडारकर ने अंक ३ श्लोक ७ के पूर्वपाद का पाठ N प्रति के आधार पर 'स्खलयति वचनं ते संश्रयत्यङ्गमङ्गम्' माना है। शेष आठ प्रतियों में समान पाठ था *'स्खलयति वचनं ते संश्रयत्यङ्गमंगम्'*। इस का कारण है कि N प्रति का पाठ जगद्धर की टीका में भी मिलता है। अतः बहु संख्यक प्रतियों के पाठ को भी त्याज्य समझना पड़ा।

यदि इन दो (या अनेक) पाठों में से भाषा, लिपि आदि के कारण किसी एक पाठ का शेष पाठ विकृत रूप हो सकते हों तो यह पाठ मूल पाठ है।

उदाहरण १—यदि "य" गण की प्रतियां उत्तर भारत की लिपियों में लिखित हों और "र" गण की दक्षिण भारत की लिपियों में हों, और यदि "य" गण में पाठ 'धिष्ठिता' हो और "र" गण में 'विष्ठिता', तो 'विष्ठिता' मूल पाठ हो सकता है क्योंकि विष्ठिता' लिपि-भ्रम से 'धिष्ठिता' का विकृत रूप हो सकता है। उत्तर भारत की प्राचीन लिपियों में 'ध' और 'व' की आकृति समान होती थी। इस प्रसंग से एक और बात भी ज्ञात होती है कि 'र' गण का काल्पनिक आदर्श उत्तर भारत की लिपि में था या वह उत्तर भारत की लिपि के किसी आदर्श की प्रतिलिपि था। अत: रचना उत्तर से दक्षिण को गई थी।

उदाहरण २—यदि सब प्रतियां शारदा लिपि के आदर्श के आधार पर देवनागरी लिपि में लिखी गई हों अर्थात् 'श' शारदा लिपि में हो, और यदि 'य' गण में 'यथा' और 'र' गण में 'तथा' पाठ हो, तो 'तथा' मूल पाठ होगा क्योंकि शारदा लिपि के 'त' और 'थ' देवनागरी लिपि के 'य' और 'प' से मिलती जुलती आकृति वाले होते हैं।

(३) यदि 'य' गण की प्रतियों में पाठ-भेद हो, अर्थात् 'व' गण का पाठ ड और 'ल' गण के सम पाठ से भिन्न हो, तो (य) गण में दो पाठ हो गए। इन में से कोई एक (मान लो कि (व) गण का) पाठ (र) गण की प्रतियों के पाठ से मिलता है तो (य) का पाठ (र) (व) के आधार पर निर्धारित किया जाएगा न कि ड, (ल) के आधार पर। (व) और (र) की पाठ समानता का समाधान उन धाराओं के संकर और आकस्मिक सरूपता के अतिरिक्त इस बात से हो सकता है कि (व) में (य) और (र) का साधारण पाठ अर्थात् (श) का पाठ मिलता है। ऐसी अवस्था में

ङ और (ल) के पाठ को अपपाठ, अशुद्ध या अनिष्ट पाठ कहते हैं। यह ग्राह्य नहीं।

इस विधि से दो प्रकार का लाभ है। पहला तो यह कि कुछ पाठांतर छोड़े जा सकते हैं, और दूसरा यह कि काल्पनिक मूलादर्श (श) के कुछ ऐसे पाठों का अनुमान किया जा सकता है जो सब प्रतियों का साधारण पाठ न हो।

काल्पनिक आदर्श और मूलादर्श का पुनर्निर्माण

भिन्न भिन्न काल्पनिक आदर्शों और मूलादर्श के पुनर्निर्माण की विधि निम्नलिखित है। प्रतियों के संकेत सब ऊपर वाले चित्र ही के अनुसार हैं।

(१) (व) का पुनर्निर्माण इस प्रकार हो सकता है—

ग घ क सम पाठ (व) के पाठ हैं।

यदि ग और घ में पाठ-भेद है और इन में एक पाठ (य) गण की शेष प्रतियों से मिलता है, तो वह (व) का पाठ है। क्योंकि कई भिन्न परम्परा वाली प्रतियों के सम पाठों का आधार मूलपाठ (श) हो सकता है, इसलिए ग घ की व्यक्तिगत अशुद्धियां (व) के पुनर्निर्माण में सहायक नहीं हो सकती।

इसी प्रकार यदि ग घ में पाठ-भेद है और इन में से कोई एक पाठ (र) गण या उस की किसी प्रति से मिलता है, तो वही (व) का पाठ है।

यदि ग घ के पाठ न परस्पर मिलते हों और न ही अन्य किसी प्रति से, तो हम नहीं कह सकते कि कौनसा पाठ (व) का है, अतः इस का पाठ संदिग्ध रह जाता है।

(२) (ल) का पुनर्निर्माण भी ऊपर वाली विधि से क, ङ (व) और (र) के मिलान से होगा। इस में उसी प्रकार निश्चय या सन्देह विद्यमान रहेंगे।

(३) (य) का पुनर्निर्माण उपर्युक्त नियमों के अनुसार ङ, (ल) (व) (र) के आधार पर होगा।

(४) (र) का पुनर्निर्माण इस प्रकार होगा—

च छ ज के सम पाठ (र) के पाठ हैं।

यदि इन प्रतियों में पाठ-भेद हो और इन में से कोई एक पाठ (य) गण या उस के उपगणों या उस की किसी प्रति के पाठ से मिलता हो, तो यह समान पाठ ही (र) का पाठ होगा। इस पाठ-समता का समाधान इन धाराओं के संकर और आकस्मिक सकल्पना के अतिरिक्त इसी बात से हो सकता है कि सम पाठ ही (र) का पाठ था और यही (श) का पाठ भी था।

यदि च छ ज के पाठ न परस्पर मिलते हो और न ही अन्य किसी प्रति के पाठ से, तो (र) का पाठ संदिग्ध रह जाएगा।

इस सब का सार यह है कि क ख ग घ ङ च छ ज प्रतियों मे से किसी एक प्रति मे उपलब्ध वह पाठ, जो दूसरी प्रतियो के पाठ से भिन्न हो, (य) या (र) के पुनर्निर्माण में प्राय: सहायता नही कर सकता। इसलिए इस को अपपाठ मान कर, इस की उपेक्षा की जा सकती है।

यदि काल्पनिक मूलादर्श (श) से (य) और (र) के अतिरिक्त अन्य धाराए भी निकलती हों, तो भी (य) (र) आदि का पुनर्निर्माण ऊपर बतलाई विधि से ही होगा।

(५) काल्पनिक मूलादर्श (श) का पुनर्निर्माण इस प्रकार होगा—

(य) (र) के पुनर्निर्मित समपाठ (श) के पाठ होगे।

यदि इन मे पाठ भेद हो, अर्थात् (य) का एक पाठ हो और (र) का दूसरा, तो इन मे से कोई सा भी पाठ (श) का हो सकता है। यह पाठ संदिग्ध रहेगा। परतु यदि वर्णों के आकार आदि के कारण एक पाठ दूसरे पाठ का विकृत रूप हो सके, तो दूसरा पाठ ही मूल पाठ होगा।

यदि (य) मे भी पाठ-भेद हो और (र) मे भी, तो इन मे से किन्हीं दो या अधिक प्रतियों का सम पाठ (श) का पाठ हो सकता है। यदि किसी भी प्रति का पाठ दूसरी के पाठ से न मिले तो (श) का पाठ संदिग्ध होगा।

(६) यदि काल्पनिक मूलादर्श (श) से (य) (र) (ह) आदि अनेक धाराओ का उद्गम हुआ हो, तो (श) पाठ का पुनर्निर्माण इन मे से किन्ही दो या अधिक धाराओ के समपाठ से होगा। परन्तु जब इन धाराओ मे भिन्न भिन्न पाठ हो, या जब किन्हीं दो या अधिक धाराओ की पाठ-समानता आकस्मिक हो, या परस्पर मिलान के कारण हो तो (श) का पाठ संदिग्ध होगा।

(७) सकीर्ण धाराओ के आधार पर (श) का पुनर्निर्माण—

पुनर्निर्माण के विषय मे ऊपर जो लिखा गया है उस मे भिन्न भिन्न धाराओं को शुद्ध माना गया है। परन्तु प्राय. देखने मे आता है कि धाराएं शुद्ध नही होतीं, उन में अन्य धाराओ का सकर दृष्टिगोचर होता है। (श) की तीन धाराए हैं—(य) (र) और (ह)। यदि (य) (र), (र) (ह), और (ह) (य) का परस्पर संकर हुआ हो, तो (य) (र) (ह) मे से किसी एक धारा के पाठ को पाठातर मानना पड़ेगा जो साधारण परिस्थिति मे ग्राह्य नही होता। हम नहीं कह सकते कि इन भिन्न पाठो मे कौन सा पाठ मौलिक है। अतः इन पाठो की महत्ता पुनर्निर्माण के लिए बराबर है।

पुनर्निर्माण के कुछ नियम—

पुनर्निर्माण मे पाठ को ग्रहण करते समय सब से पूर्व यह प्रश्न उठता है कि 'क्या रचयिता ने यही पाठ लिखा था ?' इस बात का निर्णय करते समय हमे उस रचयिता के भाव, भाषा, शैली आदि का और पूर्वापर प्रसग का ध्यान रखना पडता है। हम यह तो कह सकते है कि अमुक पाठ यहा पर हो ही नही सकता, परन्तु यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि यहा पर यही पाठ होना चाहिए। हम अपनी समझ के अनुसार पाठ को ग्रहण करते है। भिन्न भिन्न विद्वान भिन्न भिन्न निर्णय पर पहुच सकते है और भिन्न भिन्न पाठ को मौलिक मान सकते है। इन पाठो के औचित्य की परस्पर तुलना कैसे की जाए ? इन मे से कौन सा पाठ अन्य पाठो से अधिक उचित है ? किस को ग्रहण करें ? इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिए सपादक को चाहिए कि सब प्रतियो के उपलब्ध पाठों पर अच्छी तरह विचार करे। यदि कोई पाठ अर्थहीन हो, पूर्वापर विरोधी हो, अप्रासगिक हो, व्याकरण आदि के नियमो का उल्लघन करता हो, रचयिता की व्यक्तिगत विशेषताओ के अनुकूल न हो, पुनरुक्ति हो, रचयिता द्वारा प्रयुक्त छदो के नियमो के प्रतिकूल हो, प्रसग को नष्ट भ्रष्ट करता हो, विचारधारा मे ऐसी अडचन डालता हो जिसका समाधान न हो सके, तो हम निश्चय-पूर्वक कह सकते है कि वह पाठ मौलिक नहीं, अशुद्ध है, दूषित है। इसको मूल पाठ मे ग्रहण नही कर सकते। उसका सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह दोष किसी प्रकार भी दूर न हो सके, तो पाठ को अति दूषित समझ कर छोड़ देना पडता है।

प्राय देखा जाता है कि इन दूषित पाठो के स्थान मे कोई न कोई ऐसा पाठ रखा जा सकता है। जो प्रस्तुत प्रकरण मे सगत हो। इसको सुधार कहते हैं।

पाठ वही उचित है जो ठीक अर्थ दे, जो प्रकरण मे सगत हो, रचयिता के भावो के अनुकूल हो, उस की साधारण शैली और भाषा के प्रतिकूल न हो, जिस से छदोभग न हो, विचार-धारा न टूटे, और पुनरुक्ति न हो। जो पाठ इन सब बातो को पूरा करे, उसे विषयानुसंगत कहते हैं। उस के इस गुण को विषयानुसंगति कहते हैं।

प्राचीन और अप्रचलित भाषाओ के विषय मे एक और बात का ध्यान रखना चाहिए। हम उन के शब्दो का वह अर्थ लगा सकते हैं जो हमारे लिए तो सतोषप्रद हो, अभीष्ट हो परन्तु मूल रचयिता के लिए ऐसा न हो। हम नहीं कह

सकते कि उसे भी हमारा अर्थ ही अभीष्ट था। अब भी देखने मे आता है कि रचयिता के शब्दो को न समझ कर या कुछ का कुछ समझ कर पत्र आदि के संपादक कई स्थानो पर अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। हम किसी प्राचीन रचना को अपनी भाषा, भाव, शैली आदि के नियमो और विचारो से न जाचे, अपितु उस रचना के समय प्रचलित विचार, भाव, भाषा, शैली आदि के नियमो से जाचे। हमे इस बात पर विचार करना चाहिए कि अमुक रचयिता ने यहा पर क्या लिखा या सोचा होगा या वह क्या लिख या सोच सकता था। सपादक को इस बात से कोई वास्ता नहीं कि उस रचयिता को यहां पर क्या लिखना या सोचना चाहिए था।

पाठ औचित्य के विषय मे एक यह बात भी देखनी पडती है कि उपलब्ध प्रतियो का समपाठ या उन के सब पाठ-भेद गृहीत पाठ के विकृत रूप हो सकते हों, और "लिपिकारो ने यह अशुद्धिया कैसे कीं", इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता हो। इस के लिए पिछले अध्याय मे निरूपित दोष और उन के कारणों का परिज्ञान आवश्यक है। जो पाठ उपलब्ध पाठ भेदो का मूल कारण हो सके उस पाठ को **लेखानुसंगत** और उस के इस धर्म को **लेखानुसंगति** कहते हैं।

लेखानुसंगति के सम्बन्ध मे यह आवश्यक है कि प्रस्तुत पाठ उपलब्ध प्रतियो मे हो सकता हो। उदाहरण—किसी रचना की प्रतियो मे 'विष्ठिता' और धिष्ठिता पाठ हैं, इन मे से कौन सा ऐसा शब्द रखा जाए जो विषयानुसगत भी हो और लेखानुसगत भी। 'धिष्ठिता' विषयानुसगत है। यह लेखानुसंगत भी है क्यो कि उत्तर भारत की प्राचीन लिपियों मे 'ध' और 'व' समान आकृति वाले है।

प्रत्येक पाठ की इस प्रकार की परीक्षा के पश्चात् चार परिणाम हो सकते हैं — स्वीकृति, सदेह, त्याग और सुधार।

स्वीकृति—यदि सपादक निश्चयपूर्वक कह सके कि अमुक पाठ रचयिता को अभीष्ट था या हो सकता था, तो वह उसे मूल पाठ मे स्वीकार करेगा। इस को स्वीकृति कहते है।

पाठ को स्वीकृति मे विशेष ध्यान देने योग्य यह बात है कि कठिन पाठ प्राय. आसान पाठों से अच्छे होते है, और छोटे पाठ प्राय. लम्बे पाठों से प्राचीन होते हैं। 'कठिन' से हमारा अभिप्राय 'लिपिकार के लिए कठिन' और 'आसान' से 'लिपिकार के लिए आसान' है। हम पहले बतला चुके हैं कि जिस पाठ को लिपिकार नहीं समझता, उसे प्राय वह अशुद्ध मान कर अपनी मति से सुधार देता है। परन्तु लिपिकार के सुधार ऊपरी होते हैं, वह पाठ की तह तक नहीं पहुचते। वह उपयुक्त

दिखाई देते हैं। वास्तव मे वह उपयुक्त नहीं होते। हाशिए आदि के टिप्पण मूल पाठ में आकर पाठ को लम्बा कर देते हैं। अत: लम्बे पाठ की अपेक्षा छोटे पाठ प्राय: अधिक शुद्ध, प्राचीन और मौलिक होते हैं।

संदेह—यदि संपादक यह निर्णय न कर पाए कि कौन सा पाठ मौलिक है तो इस अवस्था को सदेह की अवस्था कहते हैं।

सदेह तब पैदा होता है जब विषयानुसगति के कारण एक पाठ प्रामाणिक हो, परन्तु लेखानुसंगति किसी अन्य पाठ की पुष्टि करती हो, या सपादक को स्वयं इस बात का विश्वास न हो कि उस ने सब सामग्री का प्रयोग किया है। सपादक प्राय: दूसरी प्रकार के संदेह की अनुभूति तो करता है परन्तु इस बात को स्वीकार नहीं करता।

संपादन मे संदिग्ध पाठों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कोई पाठ 'सदेह पूर्वक स्वीकृत' है अथवा 'सदेह पूर्वक त्यक्त' है, इस बात का भी स्पष्ट निर्देश होता है।

त्याग—जब सपादक को यह विश्वास हो जाता है कि अमुक पाठ मौलिक नहीं, तो वह उस को त्याग देता है। ऐसी अवस्था मे उस पाठ को या तो उड़ा दिया जाता है या ब्रैकटो मे रख दिया जाता है।

सुधार—जब सपादक इस निश्चय पर पहुचे कि भिन्न भिन्न पाठों मे से कोई पाठ भी विषयानुसगत और लेखानुसगत नहीं, तो वह उस पाठ को सुधारने का प्रयत्न करता है। सुधारा हुआ पाठ विषयानुसगत भी हो और लेखानुसगत भी। इस का विशद विवेचन अगले अध्याय मे किया जाएगा।

अध्याय ६

पाठ-सुधार

सुधार की आवश्यकता—

हम ऊपर बतला चुके हैं कि पुनर्निर्मित पाठ सदा मौलिक पाठ से मिलता जुलता हो ऐसा नहीं होता। उस मे कुछ न कुछ दोष होते हैं जो उपलब्ध सामग्री के आधार पर दूर नहीं किए जा सकते। इस लिए मूल पाठ तक पहुंचने के निमित्त हमे और आगे जाना पड़ता है। इन दोषो को यथाशक्ति हटाने के लिए पाठ-सुधार करना होगा।

सुधार की परीक्षा—

संपादक पूर्ण निश्चय से नही कह सकता कि किसी दूषित पाठ को हटा कर इसके स्थान पर कौनसा दूसरा पाठ रखा जा सकता है। इस बात के लिए उसे अपनी बुद्धि और ज्ञान पर आश्रित होना पड़ता है। भिन्न भिन्न विद्वान भिन्न भिन्न सुधार उपन्यस्त कर सकते हैं। इस लिए यह देखना है कि इन मे से कौन सा सुधार अन्य सुधारो से अधिक उचित है? किस को ग्रहण करें? इस के उत्तर मे हमे पुन पिछली दोनो बातो अर्थात् विषयानुसगति और लेखानुसगति पर ध्यान देना होगा जिन के आधार पर पुनर्निर्माण मे अनेक पाठांतरों मे से मौलिक पाठ को मालूम किया था, सुधार के सम्बन्ध मे भी इन्ही दोनो बातो से परीक्षा की जाती है।

सुधार वही उपयुक्त है जो विषयानुसगत भी हो और लेखानुसगत भी।

जो सुधार ठीक अर्थ दे, प्रकरण मे सगत हो, रचयिता के भावो के अनुकूल हो, उसकी भाषा और शैली के प्रतिकूल न हो, वह विषयानुसगत है।

वह सुधार लेखानुसगत भी हो, अर्थात् वह उपलब्ध प्रतियो के पाठ भेद का स्रोत हो। यह पाठ भेद लिपिकारो द्वारा कैसे उत्पन्न हुआ, इस बात का समाधान कर सके।

लेखानुसगति के सम्बन्ध मे यह आवश्यक है कि प्रस्तुत शोध्य दोष उपलब्ध प्रतियो मे लिपि-भ्रम से उत्पन्न हुआ हो जैसे—किसी रचना की प्रतिया मे 'विप्रिता' पाठ है और यह अर्थ नही देता। इस के स्थान पर कौन सा ऐसा शब्द रखा जाए जो विषयानुसगत भी हो और लेखानुसगत भी। यहा पर 'विष्टिना' लेखानुसगत है क्योंकि उत्तर भारत की प्राचीन लिपियो मे 'व' और 'व' समान आकृति वाले होते हैं। यदि यह शब्द विषयानुसंगत भी हो तो यह ग्राह्य है।

यदि कोई सुधार यौगपद्येन विषयानुसंगत और लेखानुसंगत न हो, तो यह विषयानुसंगत है या लेखानुसंगत इस बात के अनुसार इस की ग्राह्यता में अन्तर पड़ जाता है। जो सुधार लेखानुसंगत न हो परन्तु पूर्ण रूप से विषयानुसंगत हो, वह तो ग्राह्य हो सकता है। जो लेखानुसंगत तो हो परन्तु विषयानुसंगत न हो, वह कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी लिए तो आवश्यक है कि सम्पादक को लिपिज्ञान के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ जानना जरूरी है। उसे रचयिता की भाषा, शैली, भाव आदि का विशेष अध्ययन करना चाहिए।

संपादन-पद्धतियां—

सम्पादन में सुधार का क्या स्थान है, इस के अनुसार सम्पादन-कार्य की दो पद्धतियां हैं—प्राचीन और नवीन।

प्राचीन पद्धति में सुधार को कोई स्थान नहीं। इसके अनुयायी प्रस्तुत पाठ में सुधार किए बिना ही येन केन प्रकारेण अर्थ लगाते हैं। वह प्रस्तुत शब्दों से पूर्वापर प्रसंग द्वारा ज्ञात अर्थ को निकालने का प्रयत्न करते हैं, चाहे वह अर्थ उन में हो चाहे न हो। यदि वह अपने इस प्रयत्न में सफल नहीं होते, तो वह प्रस्तुत पाठ को दूषित या अशुद्ध प्रयोग मान कर रचयिता के माथे मढ़ देते हैं। वह उस को रचयिता का असाधारण प्रयोग या उस की व्यक्तिगत विशेषता बतलाते हैं। इस में सन्देह नहीं कि धुरंधर विद्वान और सुप्रसिद्ध ग्रंथकार की कृतियों में भी असाधारण प्रयोग और अशुद्धियां मिलती हैं। इस का यह अर्थ नहीं कि हम इन अशुद्धियों को संपादित पाठ में ज्यों का त्यों छोड़ दें—केवल यह सोच कर कि शायद यह पाठ मौलिक हो। इस से रचना को अधिक हानि पहुंचने की सम्भावना है।

इस पद्धति के अनुसार वही पाठ मौलिक हो सकता है जो प्रतियों आदि के आधार पर हम तक पहुंचा हो। सम्पादक यदि कहीं पर सुधार करे भी, तो इस को टिप्पणों में या परिशिष्ट में रखे। इस से पाठ तो अवश्य वही रहेगा जिस के प्रमाण हमारे पास विद्यमान हैं परन्तु पढ़ने में अड़चन पड़ेगी। पदे पदे पाठक को अर्थ समझने के निमित्त ठहरना पड़ेगा और अपनी बुद्धि पर जोर देना होगा।

नवीन पद्धति के अनुसार अशुद्ध पाठ का सुधार करना अच्छा है परन्तु क्लिष्ट कल्पना से केवल अर्थ लगाना अच्छा नहीं। सम्पादक मूल में उस पाठ को देगा जो विषयानुसंगति और लेखानुसंगति के परस्पर तौल से मौलिक सिद्ध हो। मूलपाठ से सबद्ध सब सामग्री को वह तुलनात्मक टिप्पणों में देगा। हर बार उपस्थित पाठ की ही जांच करेगा, वह यह नहीं देखेगा कि अन्यत्र उसने क्या निर्णय किया था।

क्रम मे संदिग्ध पाठों को विशेष रूप से दिखलाना होता है कोई पाठ 'सन्देह-पूर्वक स्वीकृत' है या 'सन्देह पूर्वक त्यक्त', इस बात का संकेत भी रहता है।

शोधक को प्राय' अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए। उस के लिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि किसी पाठ को पूर्ववर्ती सपादक या संपादको ने ग्रहण कर रखा है। हम यह नहीं जान सकते कि उन्हो ने किसी पाठ को निजी ऊहापोह से अपनाया था या पहले सम्पादको के विचारों से प्रभावान्वित हो कर। अत जब तक कोई सम्पादक किसी पाठ की मौलिकता को स्वय सिद्ध न कर ले, वह उसे मूल पाठ में न रखे।

इस बात का निर्णय करना बड़ा कठिन है कि लिपिकार की बनाए मूल रचयिता के माथे कौन कौन सी अशुद्धिया मढ़ी जाये। इस विषय में कोई उत्सर्ग नियम नहीं बनाया जा सकता। परिस्थिति के अनुसार ही निर्णय करना चाहिए। यदि मूल प्रति उपलब्ध न हो तो हम लिपिकार और रचयिता के दृष्टि मूलक दोषो मे भेद नहीं कर सकते। वास्तव में यह लिपिकार के ही दोष होते हैं क्योंकि यदि रचयिता मूल प्रति को स्वय लिखे तो वही उसका लिपिकार है।

यदि रचयिता ने कहीं जान बूझ कर अशुद्ध पाठ का प्रयोग किया हो, तो उस का सुधार नहीं करना चाहिए।

संदिग्ध पाठ—

कई विद्वानो का मत है कि सदिग्ध पाठ का निर्णय न करके उसे ज्यों का त्यो छोड़ देना चाहिए। यह सिद्धात आसानी से प्रयुक्त किया जा सकता है परन्तु मानव स्वभाव के कारण इस का परिणाम अच्छा नहीं होता। प्राचीन साहित्य उस की अशुद्धियों को दूर करने के लिए नहीं पढ़ा जाता, वस्तुत उस से आनन्द लिया जाता है। पाठक को उसे समझने मे जितना कष्ट होगा उतना ही वह उसे कम पढ़ेगा। यदि उस दूषित पाठ को मूल में रहने दिया जाए जिस का सुधार हो सके और जिस का शोधित रूप ऐसा अर्थ दे सके जो पूर्वापर प्रसंग द्वारा आकाक्षित हो, तो द्विविध परिणाम होता है। प्रथम, उस सदर्भ का अभिप्राय ही पाठक के मस्तिष्क से दूर हो जायगा क्योंकि वह उसे समझने का काफी परिश्रम न करेगा। इस का अर्थ यह होगा कि पाठक के लिए उस का अभाव प्राय हो जाएगा। दूसरे, पाठक आगे पीछे के शब्दो के वास्तविक अर्थ को तोड़ मोड़ कर उस सदर्भ से पूर्वापर प्रसंग द्वारा वाछित अर्थ को प्राप्त कर लेगा। अर्थ तो निकल आया परन्तु इस से पाठक को हानि होती है। वह उस पाठ के अर्थ को सम्यग् रूप से नहीं जान पाता, अत. जब

फिर कभी उसे समान पाठ मिलता है तो उस के मस्तिष्क मे अशुद्धि और संदेह की लहर दौड जाती है।

अर्थ और सुधार—

प्राचीन पद्धति के अनुयायियो मे यह कमजोरी है कि वह सुधार की अपेक्षा अर्थ लगाने को ही अच्छा समझते हैं चाहे वह कितनी ही क्लिष्ट कल्पना से लगे। इस पद्धति के कई विद्वानों ने तो यहां तक कहा है कि किसी पाठ का अर्थ लगा देना उसके सुधार से अधिक महत्त्व-पूर्ण और प्रशंसनीय है। दूसरी पद्धति के विद्वान् इस के बिलकुल विपरीत हैं। वह कहते हैं कि सुधार ही सम्पादक का कार्य-क्षेत्र है, क्लिष्ट कल्पना से अर्थ लगाना नहीं। वास्तव मे दोनों परिस्थितियां ठीक नहीं। सुधार और क्लिष्ट कल्पना दोनो ने ही किसी पूर्व अस्पष्ट पाठ पर प्रकाश डालना है। परन्तु सुधार कठिन कार्य है, इस लिए यह अधिक प्रशसनीय है। सुधार भी वही उचित है जो प्रस्तुत सन्दर्भ के साधारण और सगत अर्थ के साथ चले।

प्राचीन पद्धति के विद्वानों का परम ध्येय यह रहा है कि जो पाठ जिस रूप मे हम तक पहुचा है उस की उसी रूप मे रक्षा करनी चाहिए। वह इस बात मे किसी हद तक ठीक भी है क्योंकि यदि सुधार की बागडोर ढीली छोड दी जाए, तो यह पाठ को कुछ का कुछ बना देगा। कुछ ही पीढियो मे इस बात का निश्चय करना असम्भवप्राय हो जाएगा कि कौन सा पाठ मौलिक था। यही दशा आज हमारे प्राचीन साहित्य की है। इस पर अनेक सुधारकों के हाथ लग चुके हुए हैं। अतः सम्पादक को मूल पाठ का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त घोर परिश्रम करना पड़ता है।

महाभारत और सुधार—

भाडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिच्यूट पूना द्वारा सपादित और प्रकाशित महाभारत आदि पर्व मे सुधार बहुत कम किए गए हैं—सात आठ सहस्र श्लोकों मे केवल ३५ पाठों का सुधार किया गया है, वह भी शब्दों का, वाक्यों का नहीं। सुधार प्रायः ऐसे हैं जिन से पूर्वापर संगत अर्थ मे फ़रक नहीं पड़ा। जहा सन्देह रहा वहा भी उपलब्ध प्रतियों के किसी न किसी सार्थक पाठांतर को ही ग्रहण किया है। इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि वह अर्थ पूर्णतया सतोषप्रद है, और मौलिक है या नहीं। इस का कारण यह है कि हमे महाभारत काल की परिस्थिति और उस समय प्रचलित व्याकरण आदि के प्रयोगो का पूर्ण ज्ञान नहीं। हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि सारे का सारा महाभारत एक ही भाषा और एक ही शैली में लिखा गया था। हमें उपस्थित शब्दों से अर्थ लगाना चाहिए। जब अर्थ न लगे, तभी सुधार की ओर अग्रसर होना

चाहिए। जब प्रतियो मे परस्पर विरोध हो, तो विरोध को दूर करना ही सुधार का कार्य-क्षेत्र है। परन्तु जब प्रतियो मे पाठैक्य हो तो सुधार की कोई आवश्यकता नहीं। महाभारत मे सुधार के इन सिद्धान्तों का अनुसरण किया गया है। जब नेपाल से महाभारत के आदिपर्व की प्राचीनतम उपलब्ध प्रति मिली और इस का अवलोकन किया गया तो महाभारत के सुधार पचास प्रतिशत ठीक उतरे[1]।

व्यक्ति-रचित साहित्य और सुधार—

व्यक्ति-रचित साहित्य के विषय मे यह बात सर्वथा लागू नहीं होती। वहां परिस्थिति भिन्न है। किसी रचयिता की कृतियो मे जो मौलिक पाठ उपलब्ध हो, उनके आधार पर हम उस की शैली, भाषा, भाव, विचार आदि का अध्ययन कर सकते है। सम्भव है हमे कोई समान संदर्भ ही मिल जावे। इन शुद्ध और मौलिक सदर्भो के परिज्ञान से हम उचित सुधार कर सकते है। समान सदर्भो की अनुपस्थिति मे हम रचयिता सम्बन्धी अपने विचारों के अनुसार दो पाठांतरों मे से एक को अपनायेगे। यह सम्भव है कि जिस पाठ को हम चुनते है, वह मौलिक न हो। शायद रचयिता को दूसरा पाठातर ही अभीष्ट हो और उस समय वही उस के लिए सन्तोष-प्रद हो। सम्भव है वह किसी ऐसे भाव या विचार को सूचित करता हो जिसे समझने में आज हम असमर्थ हैं। जब पाठांतरो के विषय मे यह बात है तो सुधार के विषय मे तो कभी निश्चय नहीं हो सकता।

उचित विधि—

इस लिए सब से अच्छी विधि तो यही है कि हम इन दोनो पद्धतियो के बीच के मार्ग पर चले। हमे चाहिए कि पहले प्रस्तुत सदर्भ को उपलब्ध पाठान्तरो की सहायता से समझने का प्रयत्न करे। जब हमे निश्चय हो जाए कि पाठ दूषित है, तब विषयानुसंगति और लेखानुसंगति की परीक्षा से उपयुक्त सुधार कर ले। यदि कोई प्राचीन समान पाठ या प्रयोग मिल जाए तो हमारा प्रयत्न निश्चित रूप से सफल है। अन्यथा भी हमे काफ़ी हद तक निश्चय हो सकता है कि हमारा सुधार उपयुक्त है।

---

१ भूमिका पृ० ६२-६४

परिशिष्ट १

प्रतियों के मिलान की रीति

प्रतियो का मिलान बड़ी सावधानी और मेहनत का काम है। पहले उपलब्ध सामग्री मे से सब से अधिक प्रामाणिक और शुद्ध प्रति का निर्धारण करना चाहिये। फिर श्लोकबद्ध ग्रन्थ के एक एक पाद, श्लोकार्ध या श्लोक को, और गद्य ग्रन्थ के एक एक छोटे अश को जो कागज़ पर एक पंक्ति मे आ सके, पृथक २ कागज़ की शीटों पर लिखना चाहिये। शीट के दोनों ओर हाशिया रहना चाहिये। बायें हाशिये मे मिलान वाली प्रतियो के नम्बर A B C आदि और दाये हाशिये मे प्रक्षिप्त आदि पाठ या अन्य टिप्पनी लिखनी चाहिये। कागज़ों पर मुख्य प्रति का समग्र पाठ उतारा जायगा और मिलान वाली प्रतियों का केवल पाठांतर या भेद दिखाया जायगा।

शीटो की संख्या संपाद्य ग्रन्थ के परिमाण पर, और शीटो की लंबाई मिलान वाली प्रतियो की सख्या पर निर्भर हैं। यदि शीटो पर चार-खाना लकीरें खिची हो तो मिलान मे सुविधा और शुद्धता रहेगी क्योंकि इस तरह पाठांतर का प्रत्येक अक्षर अपने मूल अक्षर के नीचे २ आता जायगा। शेष बातों मे सपादक को परिस्थिति के अनुसार अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये।

पूने से महाभारत का जो सस्करण निकल रहा है उसके तय्यार करने मे समग्र पाठ के लिए कम से कम दस प्रतियां मिलाई गई हैं। बहुत से पर्वों के लिये बीस प्रतियों का, कुछ के लिये तीस और चालीस प्रतियों का, और आदि पर्व के पहले दो अध्यायो के लिये साठ प्रतियो का मिलान किया गया क्योंकि इसी के आधार पर महाभारत के संपादन-सिद्धान्त आश्रित हैं।

मिलान करने के लिये एक प्रति का सारा पाठ एक एक श्लोक करके एक एक शीट पर उतारा गया। मिलान के पश्चात् दूसरे व्यक्तियों ने उन का पुनरीक्षण किया*।

---

* महाभारत, आदि पर्व—अंग्रेजी उपोद्घात—पृष्ठ IV-V

मिलान की शीटों का नमूना

शीट नं० १

A	·	प	इ	अ	व	र	जा	सु	सि	रि	क	ट्ठ	इ	नीनो प्रतियों मे समान पाठ है।
B														
C														

शीट नं० २

A	ता	सु	भि	अं	ग	इ	म	ज्झ	म	णि	ट्ठ	इ	
B													
C								ज्झु					C Adds मेह्ल bet इ न-

शीट नं० ३

A	भ	गु	ह	लि	की	ल	उ	सो	म	हु	जो	ञ्च	णि
B													णो
C													णो

शीट नं० ४

A	अ	ण्ण	हो	मु	य	घ,	क्ले	ज्ज	सु	स	-व	व	गो	
B			हं		व									
C	अ	ह	वा		अ		क्लि		हु		*		णि	* Adds मसाणि bet. स-व, apparently a gloss on मवगो

यह मिलान हरिषेण कृत "धम्मपरिक्खा" की प्रतियों का है। A B प्रतियें भाण्डारकर इन्स्टिच्यूट की हैं और C अम्बाला शहर के जैन भंडार की। पाठ दूसरी सन्धि के दूसरे घत्ते का है।

परिशिष्ट २

प्राचीन लेखन-सामग्री

काव्यमीमासा मे कवि के उपकरण की चर्चा करते हुए राजशेखर ने कहा है—

'तस्य सम्पुटिका सफलकखटिका, समुद्गकः, सलेखनीयकमषीभाजनानि ताडपत्राणि भूर्जत्वचो वा, सलोहकण्टकानि तालदलानि, सुसम्मृष्टा भित्तयः सतत-सिन्नहिताः स्युः।'[1]

इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस काल में ताडपत्र, भोजपत्र, फलक और सम्मृष्ट भित्ति आदि पर लिखने की परिपाटी थी। इसी प्रकार योगिनीतंत्र[2] मे वृक्षों के पत्तो के अतिरिक्त धातु के प्रयोग का भी उल्लेख है।

अद्यावधि जिस जिस सामग्री पर लेख मिले हैं, वह निम्नलिखित है—

(१) ताड़पत्र—ताड वृक्ष दक्षिण भारत मे समुद्र तट के प्रदेशों में अधिक होता है। पुस्तक लिखने के लिये जो ताडपत्र काम मे आते थे उन को सुखा कर पानी म उबालते या भिगो रखते थे। इन को पुन सुखा कर शंख, कौड़े, चिकने पत्थर आदि से घोटते थे। इन की लंबाई एक से तीन फुट तक और चौड़ाई एक से चार इंच तक होती है।

पश्चिमी और उत्तरी भारत वाले इन पर स्याही से लिखते थे परन्तु उड़ीसा और दक्षिण के लोग उन पर तीखे और गोल मुख की शलाका को दबा कर अक्षर कुरेदते थे। फिर पत्रा पर काजल फिरा कर अक्षर काले कर देते थे। कम लम्बाई के पत्रों के मध्य

---

१. काव्य मीमासा (बडोदा संस्करण) पृ० ५० ।

२ भाग ३, पटल ७ मे निम्नलिखित श्लोक आते हैं जो शब्दकल्पद्रुम में से 'पुस्तक' शब्द क वर्णन से उद्धृत किए हैं :—

'भूर्जे वा तेजपत्रे वा ताले वा ताडिपत्रके ।
अगुरुणापि देवेशि ! पुस्तकं कारयेत् प्रिये ! ॥
सम्भवे स्वर्णपत्रे च ताम्रपत्रे च शङ्करि ।
अन्यवृक्षत्वचि देवि ! तथा केतकिपत्रके ॥
मार्त्तण्डपत्रे रौप्ये वा वटपत्रे वरानने ! ।
अन्यपत्रे वसुदले लिखित्वा यः समभ्यसेत् ।
स दुर्गतिमवाप्नोति धनहानिर्भवेद् ध्रुवम् ॥"

में एक, और अधिक लम्बाई वालो के दो—मध्य से कुछ अन्तर पर दाईं और बाईं ओर एक एक—छिद्र किये जाते थे। इन छिद्रो मे सूत्र पिरो कर गाठ दे देते थे।

सातवीं शताब्दी में ह्यूनत्साग लिखता है कि लिखने के लिए ताडपत्र का प्रयोग सारे भारत में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह इस समय से भी बहुत पूर्व भारत में प्रचलित था, क्योंकि तक्षशिला से प्रथम शताब्दी का एक ताम्रपत्र मिला है जिस का आकार ताडपत्र से मिलता है।

ताड़पत्रों पर स्याही से लिखी हुई पुस्तकों में सब से पुराना अश्वघोष के दो नाटकों का त्रुटित अंश है जो दूसरी शताब्दी के आसपास का लिपिकृत है। गॉडफ्रे संग्रह के कुछ ताडपत्र चौथी शताब्दी मे लिखे प्रतीत होते हैं। जापान के होरियूजि विहार मे सुरक्षित 'प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र' और 'उष्णीषविजयधारणी' नामक बौद्ध ग्रंथ छठी शताब्दी के आस पास लिपिबद्ध किये गए थे। ग्यारहवी शताब्दी और उस के पीछे के तो अनेक ताड़पत्रीय पुस्तके गुजरात, राजपूताना, नेपाल आदि प्रदेशो मे विद्यमान हैं। लोहशलाका से उत्कीर्ण ताडपत्रो की पुस्तके पद्रहवीं शताब्दी से पूर्व की नहीं मिलीं।

(२) भूर्जत्वचा—इस को भूर्जपत्र या भोजपत्र भी कहते हैं। यह 'भूर्ज' नामक वृक्ष की भीतरी छाल है, जो हिमालय पर्वत पर प्रचुरता से होता है। इस के अतिरिक्त 'उग्र' आदि अन्य वृक्षो की छाल पर भी लिखते थे परन्तु बहुत कम। वृक्षत्वचा का प्रयोग प्राचीन काल मे पाश्चात्य देशो मे भी होता था क्योंकि ग्रीक और लैटिन भाषाओं मे छाल-सूचक शब्द – बिब्लोस (biblos) और लीब्र (libre) ही पुस्तक-सूचक शब्द बन गए।

ग्रीक लेखक कर्टियस (Curtius) ने लिखा है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत मे भोज वृक्ष की छाल पर लिखा जाता था। अलबेरूनी लिखता है कि "मध्य और उत्तरीय भारत मे लोग तूज़ वृक्ष की छाल का प्रयोग करते हैं।......इस वृक्ष को भूर्ज कहते हैं। वे लोग इस का एक गज़ लम्बा और हाथ की खूब फैलाई हुई उंगलियों जितना, या उससे कुछ कम चौडा टुकडा लेते हैं, और इसे अनेक रीतियों से तैयार करते हैं। वे इसे चिकनाते और खूब घोटते हैं जिस से यह दृढ़ और स्निग्ध बन जाता है। तब वे इस पर लिखते हैं[१]।"

भोजपत्रों पर लिखी सब से प्राचीन पुस्तक मध्य एशिया से मिली है जो खरोष्ठी लिपि का धम्मपद है और जो दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिपि किया गया

१. "अलबेरूनी का भारत" (हिन्दी), भाग २, पृ० ८६-७।

होगा। संयुक्तागमसूत्र' चौथी शताब्दी का है। तत्पश्चात् गॉडफ्रे संग्रह की अपूर्ण प्रतियां और बौवर (छटी श०) और बख़शाली (आठवीं श०) प्रतिया हैं। इन के अनन्तर काश्मीर हस्तलेख हैं जो अब संसार के प्रसिद्ध पुस्तकालयों मे सुरक्षित हैं। यह प्राय: पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं मिलते।

(३) कपड़ा—इस को संस्कृत भाषा मे पट, पटिका, या कार्पासिक पट कहते हैं। लेखन-सामग्री के रूप मे इस का उल्लेख स्मृतियों[1] और सातवाहन के समकालीन कई शिलालेखों[2] मे मिलता है। दक्षिण मे लिखने के लिए इस का प्रयोग अब भी होता है।

कपड़े का प्रयोग जैनों मे बहुलता से मिलता है। ब्यूलर को जैसलमेर मे चीनांशु पर जैन आगमों की सूची मिली थी। और पीटरसन ने लिखा है कि पाटण के एक जैन भंडार मे श्री प्रभसूरिविरचित 'धर्मविधि' नामक पुस्तक, उदयसिंह की वृत्ति सहित, २५ इंच चौड़े कपड़े के ९२ पत्रों पर सं० १४१८ का लिपिकृत विद्यमान है। बड़ोदा के जैन भंडार मे 'त्रयप्राभृत' कपड़े पर लिखा मिलता है। कपड़े पर विज्ञप्तियां भी लिखी जाती थीं जिन को हमने बड़ोदा मे डा० हीरानन्द जी शास्त्री के निजी संग्रह मे देखा है।

ओरियंटल कालेज के भूतपूर्व प्रिन्सिपल सर् ऑरल स्टाइन को मध्य एशिया से भी अनेक प्रकार के कपड़ों पर लेख मिले थे।

(४) लकड़ी का पाटा और पाटी—ललितविस्तर[3], जातक[4] आदि बौद्ध ग्रंथों मे लकड़ी की पाटियों (फलक) का उल्लेख है[5]। शाक्यमुनि को अक्षरारंभ के समय चंदन की पाटी दी गई थी। विद्यार्थी अपने अपने फलक पाठशाला मे ले जाते और वहां उन पर लिखते थे[6]।

रंगीन फलकों पर लिपिकृत पुस्तकें ब्रह्मदेश मे बहुत मिलती हैं और आसाम भी एक पुस्तक मिली है जो बोडलेअन पुस्तकालय मे सुरक्षित है।

---

१. दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यन्तु कारयेत्।
आगामिभद्रनृपति. परिज्ञानाय पार्थिवः।
पटे वा ताम्रपट्टे वा समुद्रोपरिचिह्नितम्॥ (मिताक्षरा, अध्याय १, ३१६, ३१७)

२. कात्रे, पृ० ५।

३. ललितविस्तर अध्याय १० (अंग्रेजी अनुवाद) पृ० १८१-८५।

४. कटाहक जातक।

(५) धातु—लिखने के लिए सोना, चादी, कासी, पीतल, ताबा, लोहा आदि अनेक धातुओं का प्रयोग होता था। सोने और चादी का प्रयोग बहुत कम होता था परतु ताबे का बहुत अधिक।

राजाओं तथा सामंतो की ओर से मदिर, मठ, ब्राह्मण, साधु आदि को दान मे दिए हुए गात्र, खेत, कूप आदि की सनदे ताबे पर खुदवा कर दी जाती थीं। इन को दानपत्र, ताम्रपत्र, ताम्रशासन, या शासनपत्र कहते हैं। दानपत्रो की रचना दानी स्वय करता या किसी विद्वान से कराता था। फिर उस लेख्य को सुदर अक्षर लिखने वाला लेखक स्याही से ताबे के पत्रों पर लिखता और सुनार, ठठेरा या लुहार उसे खोदता था।

इन पत्रो की लंबाई और चौड़ाई लेख्य, लेखनी आदि पर निर्भर होती थी। इन का आकार ताड, भोज आदि आदर्श पत्रो के अनुसार होता था। लंबे ताम्रपत्र प्राय. दक्षिण मे मिलते हैं क्योंकि वहा ताडपत्रो का प्रयोग बहुत होता था। यदि एक ही दानपत्र दो या अधिक ताम्रपत्रों पर खुदा हो तो इन को ताबे के एक या दो छल्लों मे जोडा जाता था। कभी कभी इस छल्ले की संधि पर राजमुद्रा भी लगाई जाती थी।

सुवर्णपत्रो का उल्लेख जातको[1] मे मिलता है—इन पर लोग अपने कुटुब सबधी विषयो, राजकीय शासनो और धर्म नियमों को खुदवाते थे। तक्षशिला के गगू नामक स्तूप से खरोष्ठी लिपि के लेख वाला, और ब्रह्मदेश से अनेक सुवर्णपत्र प्राप्त हुए हैं।

रजतपत्र तक्षशिला और भट्टिप्रोलू से मिले है। जैन मंदिरो मे चादी के गट्टे और यत्र मिलते हैं जिन पर 'नमस्कार मंत्र' खुदा रहता है।

बुद्धकालीन ताम्रशासनो का ज्ञान फ़ाहियान के लेखो से होता है।

ताबे और पीतल का जैन मूर्तियो पर भी लेख मिलते हैं।

(६) चर्म—योरप और अरब आदि देशो मे प्राचीनकाल मे चमडे पर लिखा जाता था। परतु भारत के लोग इसे अपवित्र मानते हैं इसलिए इस का प्रयोग यहा शायद ही होता होगा। फिर भी चर्म पर लिखने के उदाहरण मिलते हैं। सुबंधु[2] ने अपनी 'वासवदत्ता' मे अधेरे आकाश मे चमकते हुए तारो को स्यायी से काले किए हुए चमडे पर चद्रमा रूपी खडिया से बनाए हुए शून्यबिन्दुओं से उपमा दी है।

---

१. कण्ह, रुरु, कुरुधम्म और तेसकुन नाम के जातक।

२ विश्व गणयतो विधातु. शशिकठिनीखण्डेन तमोमषीश्यामेऽजिन इव नभसि ससारस्यातिशून्यत्वाच्छून्य बिन्दव इव—हाल संपादित वासवदत्ता, पृ० १८२।

स्ट्रेबो[1] ने लिखा है कि आगस्टस सीजर (मृत्यु विक्रम सं० ७१) को भारत से चर्म पर एक लेख आया था। स्टाइन को मध्य एशिया से चर्म पर खरोष्ठी लिपि के लेख मिले थे और ब्यूलर को जैसलमेर के 'बृहत् ज्ञानकोश' नामक जैन भण्डार मे हस्तलेखों के साथ अलिखित चर्मपत्र भी मिला था।

(७) पाषाण—प्राचीन काल से भारत म कई प्रकार का पाषाण लिखने के काम आता था। इस पर अनेक राजकीय शासन और कुछ ग्रंथ मिले हैं। बीजोल्या (राजपूताना) से शिलाओं पर उत्कीर्ण 'उन्नतशिखर पुराण' और अजमेर से विग्रह-राज चतुर्थ और उस के राज कवि सोमेश्वर द्वारा रचित दो नाटकों (हरकेलिनाटक और ललितविग्रहराजनाटक) के अंश मिले हैं[2]।

(८) ईंटो पर खुदे हुए बौद्ध सूत्र उत्तर-पश्चिम प्रांत मे मिले हैं। कच्ची ईंटो पर अक्षर उत्कीर्ण करके उन को पकाया जाता था।

मोहिंजोदडो, हडप्पा, नालंदा, पाटलिपुत्र आदि स्थानों से मिट्टी की मुद्राए और पात्र मिले है जिन पर लेख खुदे हैं।

(९) कागज़ (कार्पासपत्र)—कहते है कि पहिले पहिल चीन वालों ने सं० १६२ मे कागज़ बनाया[3]। परतु निअर्कस[4] अपने व्यक्तिगत अनुभव से लिखता है कि "हिंदुस्तान के लोग रूई को कूट कर लिखने के लिए कागज़ बनाते हैं।" ब्यूलर आदि कई पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि योरप की नाईं भारत मे भी कागज़ का प्रचार मुसलमानो ने किया था। परंतु इन के आने से पूर्व के भारतीय साहित्य मे कुछ उल्लेख ऐसे मिलते हैं जिन के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत

---

१. मॅक्रिंडल—एन्शट इडिआ ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ स्ट्रेबो, पृ० ७१।

२. भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १५० का टिप्पण नं० ६।

३. भारत पर आक्रमण करने वाले यवन बादशाह सिकंदर का निअर्कस एक सेनापति था। वह उस के साथ पंजाब मे रहा और वापसी पर भी वहाँ सेनापति था। उस ने आक्रमण का विस्तृत वृत्तात लिखा था जिस का सार एरिअन ने अपनी इंडिका नामक पुस्तक में दिया है।

४. इस विषय में मैक्समूलर लिखता है कि 'निअर्कस कहता है—भारतवासी रूई से कागज बनाना जानते थे' (देखो—हिस्टरी ऑफ़ एन्शंट संस्कृत लिट्रेचर पृ० ३६७), और ब्यूलर का आशय हैं "अच्छी तरह कूट कर तय्यार किये हुए रूई के कपडों के 'पट" (इडियन पेलिओग्राफी पृ० ९८) जो भ्रमपूर्ण है क्योंकि पट अब तक बनते हैं और वह सर्वथा कूट कर नहीं बनाए जाते। निअर्कस का अभिप्राय कागज़ों से ही है। (भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १४४ का टिप्पण ३)।

में कागज़ का प्रचार था। धारा के राजा भोज के समय में लिखी गई 'प्रशस्ति-प्रकाशिका'[1] में और वररुचिप्रणीत 'पत्रकौमुदी' मे बतलाया गया है कि राजकीय पत्रों की कैसे तह की जाए, कितना हाशिया छोड़ना चाहिए, बाईं ओर के निचले किनारे को थोड़ा सा काटना चाहिए, पिछले पृष्ठ पर 'श्री' शब्द अनेक बार लिखना चाहिए —यह सब ऐसी बातें हैं जिन का संबंध ताड या भोज या धातु के पत्रों से नहीं हो सकता प्रत्युत कागज से ही हो सकता है[2]।

देसी कागज चिकने न होने से पक्की स्याही उन के आर पार फैल जाती थी इसलिए उन पर गेहूं या चावल के आटे की पतली लेई लगा कर और उस को सुखा कर, शंख आदि से घोंट लेते थे। इस से कागज चिकने और कोमल हो जाते थे। कभी कभी लेई में संखिया या हरिताल भी डाल देते थे। इस से कागज़ को कीडा नहीं लगता था।

जैन लेखकों ने कागज़ की पुस्तकें लिखने मे ताडपत्रों का अनुकरण किया है, क्योंकि कागज की पुरानी पुस्तकों के प्रत्येक पत्रे का मध्य भाग बहुधा खाली छोड़ा हुआ मिलता है। चौदहवीं शताब्दी की लिखी हुई कुछ प्रतियों मे प्रत्येक पन्ने और ऊपर नीचे की पाटियों में छेद किए हुए भी देखने में आते हैं।[3]

भारत में कागज़ की प्राचीनतम पुस्तके तेरहवी शताब्दी की मिलती हैं, परन्तु मध्य एशिया में भारतीय गुप्तलिपि की चार पुस्तकें और कुछ संस्कृत पुस्तके मिली हैं जो लग भग पांचवीं शताब्दी की हैं। कई विद्वान इनको न भारतीय कागज पर और न भारत में लिखी हुई मानते हैं।

स्याही (मषी)

भारत में नाना वर्णों की स्याही का प्रयोग हुआ मिलता है जैसे काली, लाल, पीली, हरी, सुवर्णमयी, रजतमयी आदि। इन के बनाने की विधि निम्नलिखित है।

---

१ शब्दकल्पद्रुम मे 'पत्र' शब्द के विवरण मे उद्धृत—

पत्रं तु त्रिगुणीकृत्य ऊर्द्ध्वे तु द्विगुणं त्यजेत ।
शेषभागे लिखेद्वर्णान् गद्यपद्यादिसंयुतान् ॥
दक्षिणे पत्रकोणस्य अधस्ताच्छेदयेत् सुधी.।
एकाङ्गुलप्रमाणेन राजपत्रस्य चैव हि ॥

२. गफ—पेपर्ज़ रिलेटिंग टु दि कोलेक्शन अंड प्रेजर्वेशन ऑफ़ दि रिकार्डज़ ऑफ़ एन्शंट संस्कृत लिट्रेचर ऑफ इंडिया, पृ० १६।

३. भारतीय प्राचीनलिपिमाला, पृ० १४५ और उसी पृष्ठ का टिप्पण १।

काली स्याही[1]—कागज पर लिखने की काली स्याही दो प्रकार की होती है—पक्की और कच्ची। पक्की स्याही से पुस्तकें लिखी जाती हैं और कच्ची से साधारण काम लिया जाता है। पक्की स्याही बनाने के लिए मिट्टी की हडिया मे जल और पीपल की पिसी हुई लाख को डाल कर आग पर रख देते है। फिर इस मे पिसा हुआ सुहागा और लोध मिलाते हैं। जब यह मिश्रित पदार्थ कागज पर लाल लकीर देने लगे तो इसे उतार कर छान लेते हैं। इस को अलता (अलक्तक) कहते हैं। फिर तिलों के तेल के दीपक के काजल को बारीक कपड़े मे बाध कर, इस मे फिराते रहते हैं जब तक कि उस से काले अक्षर बनने न लग जावे।

कच्ची स्याही काजल, कत्था, बीजाबोर और गोंद को मिला कर बनाई जाती है

भोजपत्र पर लिखने की स्याही बादाम के छिलकों के कोयलों को गोमूत्र मे उबाल कर बनाते हैं।

लाल स्याही[1]—एक तो अलता, जिस की निर्माण विधि काली स्याही के विवरण मे बतलाई गई है, लाल स्याही के रूप मे प्रयुक्त होता है और दूसरे गोंद के पानी मे घोला हुआ हिंगलू।

हरी, पीली आदि स्याही—सूखे हरे रंग को गोंद के पानी मे घोल कर हरी, हरिताल से पीली और जगाल से जगाली स्याही भी लेखक लोग बनाते हैं। केवल हरिताल का प्रयोग भी मिलता है।

सोने और चांदी की स्याही[1]—सोने और चादी के वरको को गोंद के पानी मे घोट कर सुवर्णमयी और रजतमयी स्याहिया बनाई जाती थी। इन स्याहियों से लिखने के पहले पत्र काले या लाल रंग से रंगे जाते थे। कलम से लिख कर पत्रों को कौड़ी या अकीक आदि से घोटते थे जिस से अक्षर चमक पकड़ लेते थे।

प्रयोग की प्राचीनता—मोहिंजोदड़ो से एक खोखला पात्र मिला है जिस को मैके आदि विद्वान् मषीपात्र मानते है। निअर्कस और कर्टियस के लेखो से भी पता चलता है कि भारत मे विक्रम से तीन सौ वर्ष पूर्व भी स्याही का प्रयोग किया जाता था। मध्य एशिया से प्राप्त खरोष्ठी लिपि के लेख स्याही से लिखे हुए हैं—इन के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रम की प्रथम शताब्दी मे स्याही से लिखा जाता था स्याही का प्राचीनतम लेख साची के एक स्तूप मे निकला है जो कम से

१ भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १५४-६

क्रम विक्रम से पूर्व तीसरी शताब्दी का होगा। अजंता की गुहाओं में विविध वर्णों के लेख और चित्र मिलते हैं।

हस्तलिखित पुस्तकों मे वैदिक स्वरो के चिह्न, अध्याय-समाप्ति की पुष्पिका, 'भगवानुवाच', 'ऋषिरुवाच' आदि वाक्य, विराम आदि चिह्न प्राय: रगीन स्याहियों से लिखे जाते थे। जैन पुस्तकों मे इन का प्रयोग विशेष रूप से मिलता है। पत्रे के दाएं और बाएं हाशिए की दो दो खड़ी लकीरें प्राय. अलता या हिंगलू से लगाई जाती थीं। जिन अक्षरो या शब्दो को काटना होता था उन पर आम तौर पर हरिताल फेर देते थे। जैन पुस्तको के लिखने मे सोने और चादी की स्याहियो का प्रयोग भी काफ़ी मिलता है।

स्याही-संबंधी एक आख्यान—द्वितीय राजतरंगिणी[1] का कर्ता जोनराज अपने ही एक मुकद्दमे की बाबत लिखता है कि मेरे दादा ने दस प्रस्थ भूमि मे से एक प्रस्थ बेची थी। उस की मृत्यु के पश्चात् खरीदने वाले दसो प्रस्थ जबरदस्ती भोगते रहे और विक्रय पत्र मे 'भूप्रस्थमक विक्रीत' का भूप्रस्थदशक विक्रीत' कर लिया[2]। मैने जब राज सभा मे मुकद्दमा किया तो राजा ने विक्रय पत्र को पानी म डाल दिया जिस से नई स्याही के अक्षर तो धुल गए परन्तु पुरानी के रह गए। इस से स्पष्ट है कि स्याही की सहायता से उस राजा ने पूर्ण रूप से न्याय किया।

कलम (लेखनी)—स्याही से पुस्तके लिखने के लिए नड़ या बास की लेखनिया काम मे आती थी। अजन्ता की गुहाओ के रगीन चित्र महीन बालो की कूर्चिका (वर्तिका, या तूलिका) से लिखे गए होगे। दक्षिण मे ताड़पत्रों पर तीखे गोल मुख वाली धातु शलाका द्वारा अक्षर उत्कीर्ण किए जाते थे।

---

१. देखो श्लोक ८००-८०७।

२ 'म' से पूर्व लगने वाली रेखा-रूप 'ए' की मात्रा को 'द और 'म' को 'श' बनाने से विक्रयपत्र मे यह परिवर्तन हो पाया। यह इस लिए सम्भव था कि शारदा आदि प्राचीन लिपियों मे 'ए के लिए पड़ी मात्रा का प्रयोग होता था जो व्यंजन से पूर्व छोटी या बड़ी खड़ी लकीर के रूप मे लगती थी— इस का 'द' आसानी से बन सकता है—और 'म' के ऊपर सिर की लकीर नहीं लगती परन्तु 'श' मे लगती हैं, इस लिए सिर की लकीर भर देने से 'श' बन गया।

योगिनीतंत्र' के अनुसार बांस की कलमे और कासी की सिलाइयां अच्छी नहीं होतीं, परन्तु नल (अर्थात् काने) की लेखनी तथा सोने, तांबे और रैत्य की सिलाइयां अच्छी होती हैं।

रेखा-पाटी—कागज पर सीधी लकीरो के निशान डालने के लिये यह लकडी या गत्ते की पाटी होती है जिस पर यथेष्ट अन्तर पर धागे कसे या चिपकाए होते हैं।

परिशिष्ट ३

सूची-साहित्य

जब से पाश्चात्य लोग भारत मे आए तभी से वह भारतीय साहित्य को एकत्रित करने और उसके अध्ययन मे लग गए। चेम्बर्ज, मैकॅनजी आदि कई विद्वानो ने व्यक्तिगत पुस्तक-संग्रह बनाए जिन मे से कई मे तो सस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की सख्या सहस्रों तक पहुच गई थी। भारत और विदेश में इस सगृहीत साहित्य का सूची-निर्माण होने लगा। इस प्रकार साहित्य के इस अंग की नींव पड़ी। इस समय की छपी हुई कुछ सूचियां निम्नलिखित हैं —

सन् १८०७ -सर विलियम और लेडी जोनज द्वारा रायल सोसायटी को भेट किए गए सस्कृत तथा अन्य प्राच्य हस्तलेखों की सूची (सर विलियम जोनज के वर्क्स भाग १३, पृ० ४०१-१५, लदन, १८०७)।

सन् १८२८—डिस्क्रिप्टिव कैटॅलाग आफ दि ओरियटल मैनुस्क्रिप्टस कोलेक्टिड बाइ दि लेट लैफ्टिनेंट कर्नल कोलिन मेकॅनजी, कलकत्ता।

---

१. भाग ३, पटल ७, शब्दकल्पद्रुम मे 'लेखनी' के विवरण मे उद्धृत—

"वंशसूच्या लिखेद्वर्णं तस्य हानिर्भवेद् ध्रुवम्।
ताम्रसूच्या तु विभवो भवेन्न तत्क्षयो भवेत्॥
महालक्ष्मीर्भवेन्नित्यं सुवर्णस्य शलाकया।
बृहन्नलस्य सूच्या वै मतिवृद्धिः प्रजायते॥
तथा अग्निमयैर्देवि पुत्रपौत्रधनागमः।"
अग्निमयैश्चित्रकाष्ठमयैः।
"रैत्येन विपुला लक्ष्मीः कांस्येन मरणं भवेत्॥"

सन १८३८—सूची पुस्तक, कलकत्ता ।

सन १८४६—आटो बोटलिंक द्वारा निर्मित एश्याटिक म्यूजियम की सूची, सेंट पीटर्ज़बर्ग ।

सन १८५७-६१—मद्रास बोर्ड आफ़ एग्ज़ामिनर्ज़ के पुस्तकालय के प्राच्य हस्तलेखों की सूचिया, मद्रास, १८५७, १८६१ ।

सन १८६५—आर० रोट द्वारा निर्मित सूची (जर्मन भाषा म) ।

संस्कृत साहित्य की एक पूर्ण और बृहत् सूची की महत्ता का अनुभव करते हुए लाहौर के प्रसिद्ध प० राधा कृष्ण ने भारत सरकार को एक पत्र लिखा जिस मे इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि भारत तथा योरप मे उपलब्ध सारे संस्कृत साहित्य की विस्तृत और सर्वागपूर्ण सूची का निर्माण किया जाए । इस के फल-स्वरूप भारत सरकार ने इस कार्य के निमित्त प्रति वर्ष कुछ धन लगाने का निर्णय किया । इस का व्यय इन बातों के लिए निश्चित हुआ —(१) हस्तलेखो का खरीदना, (२) जो हस्तलेख खरीदे न जा सके उन की प्रतिलिपि करवाना, (३) संस्कृत साहित्य की खोज और सूची निर्माण, और (४) एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बगाल को उसके साहित्य प्रकाशन कार्य मे सहायता देना । यह धन बगाल बम्बई और मद्रास प्रांतो मे बांट दिया गया । इस आयोजना के अनुसार जो सूचिया छपी उन मे से कुछ नीचे दी जाती हैं —

बंगाल—

राजेन्द्रलाल मित्र—नोटिसिज आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, ६ भाग, कलकत्ता, १८७१—१८६८ । ३ भाग-१६००, १६०४, १६०७ । मित्र ने नेपाल के बौद्ध हस्त-लेखों की और बीकानेर दरबार लाइब्रेरी की भी सूचियां बनाई थी ।

देवीप्रसाद—अवध प्रांत की संस्कृत हस्तलिखित प्रतियों की सूचिया, अला-हाबाद, १८७८-१८६३ ।

हर प्रसाद शास्त्री—नोटिसिज़ आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स १०, ११ भाग १८६०, ६५, दूसरी सिरीज़ ४ भाग, कलकत्ता १८६८-१६११ । रिपोर्ट फार दि सर्च आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्टस, १८६५-१६००, १६०६ । इन्होंने सन १६०५ मे नेपाल दरबार की लाइब्रेरी के ताडपत्र और कागज़ के ग्रन्थो की सूची बनाई ।

बम्बई—

एफ़० कील्होर्न ने १८६६ मे दक्षिण भाग के, १८७४ मे मध्य प्रदेश के, १८८१ मे सरकार द्वारा खरीदे हुए, और १८८४ मे विश्रामबाग पूना के हस्तलिखित ग्रन्थो की सूचियां तय्यार कीं ।

जी० ब्यूलर—गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध और खानदेश के व्यक्तिगत पुस्तकालयों के हस्तलेखों की सूचियां, ४ भाग १८७१-७३। रिपोर्ट आन दि रिज़ल्टस आफ़ दि सर्वे फार संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १८७२, १८७४, १८७५। काश्मीर, राजपूताना और मध्य प्रदेश में संस्कृत हस्तलेखों की खोज का परिणाम, १८७७।

पी० पीटरसन—बम्बई प्रान्त में संस्कृत हस्तलेखों की खोज पर रिपोर्टें, छ भाग, १८८३, ८४, ८७, ९४, ९६, ९९। अलवर दरबार लाइब्रेरी की सूची सन १८९२।

भांडारकर—अ रिपोर्ट आन दि सर्च आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १८८२, ८४, ८७, ९४ और ९७। व्यक्तिगत पुस्तकसंग्रहों के संस्कृत हस्तलेखों की सूची १८९३। विश्रामबाग, पूना की सूची, भाग २, १८८४।

मद्रास—

गुस्टाव आपर्ट—लिस्ट्स आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ आफ सदर्न मद्रास, १८८०, १८८५।

इ० हुल्श—दक्षिण भारत के संस्कृत हस्तलेखों की रिपोर्ट, १८९५ और १९०३।

पंजाब—

काशीनाथ कुण्टे—१८७९, १८८० और १८८२ की रिपोर्टें।

सन १९०० के लगभग से इस कार्य में भारत सरकार का इतना हस्तक्षेप न रहा जितना पहले था। अब इस सिलसिले को विश्वविद्यालयों तथा अन्य विद्वत्सभाओं ने जारी रखा और निम्नलिखित सूचियां तय्यार हुईं—

डिस्क्रिप्टिव कैटॉलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्मेंट ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास—भाग १ उपभाग १ एम० शेषगिरि शास्त्री, भाग १ उपभाग २-३ एम० शेषगिरि शास्त्री और एम० रंगाचार्य भाग २-१५ और १८ एम० रंगाचार्य, भाग १६, १७ और १९ एम० रंगाचार्य और एम० कुप्पुस्वामी शास्त्री भाग २०-२७ एम० कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा प्रणीत। मद्रास से त्रैवार्षिक रिपोर्टें भी प्रकाशित होती हैं।

अ कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स अक्वायर्ड फार दि गवर्मेंट संस्कृत लाइब्रेरी, सरस्वती भवन, काशी, १८९७-१९१९। इसी की विवरणात्मक सूची भाग १, १९२३।

भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना के सूचीपत्र, भाग १, १६१६, २, १६३८, १२, १६३६, १३, १६४०, १४, १६३७, १६, १६३६, १७, १६३५, १६३६, १६४० ।

एशियाटिकसोसायटी आफ बगाल का विवरणात्मक सूचीपत्र भाग १, १६१७; २ और ४, १६२३, ३ और ५, १६२५, ६, १६३१, ७, १६३४, और ८, १६३६ ।

मिथिला के हस्तलेखो की विवरणात्मक सूची पटना, १६२७ और १६३२ ।

रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की सूची, भाग १-४, १६२५-३० ।

सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजोर, के संस्कृत हस्तलेखो की सूची, १६ भाग ।

पंजाब युनिवर्सिटी लाइब्रेरी की सूची लाहौर, १६३१, १६४२ ।

पंजाब जैन भडारो की सूची, लाहौर १६३६ ।

बडोदा से बडोदा सेंट्रल लाइब्रेरी, जेसलमेर और पाटण के जैन भडारो के हस्तलेखो की सूचियां प्रकाशित हुई, १६२५, १६२३, १६३७ ।

इन के अतिरिक्त विदेश से भी बहुत सी सूचिया प्रकाशित हुई हैं—जैसे इंगलैंड मे आक्सफ़ोर्ड, केम्ब्रिज, लडन से सूचिया निकली है। १६३५ मे कीथ और टौमस ने इण्डिया आफिस लाइब्रेरी के संस्कृत और प्राकृत हस्तलेखो की सूची बनाई जो बृहत्काय और विवरणात्मक है । इसी प्रकार जर्मनी, फ्रास, रूस, अमरीका आदि देशों से भी सूचियां प्रकाशित हो चुकी है ।

सन् १८६१ तक जितनी सूचिया छपी थीं उनके आधार पर औफ्रैष्ट ने एक बृहत् सूची तय्यार की जिस का नाम कैटॅलोगस "कैटॅलोगरम" है । इसमे ग्रथो के नाम अकारादिक्रम से दिए हैं। ग्रथ नाम के साथ जिन सूचियों मे वह ग्रथ वर्णित हो उनका उल्लेख भी कर दिया है। १८६६ और १६०३ मे इस ग्रथ के दो परिशिष्ट भी निकले जिनमे इस कालांतर मे उपलब्ध और ज्ञात ग्रथो का समावेश किया गया । इन परिशिष्टो के साथ ग्रंथकारो की सूचियां भी है । मूल कैटॅलोगस कैटॅलोगरम को प्रकाशित हुए ५० से अधिक वर्ष हो चुके हैं और इस के दो भाग परिशिष्ट रूप से निकल चुके हैं । इस अन्तर मे बहुत सा साहित्य उपलब्ध हो चुका है और बहुत सी सूचिया भी बन चुकी हैं । अत पिछले दिनो मद्रास विश्वविद्यालय ने एक नव कैटॅलोगस कैटॅलोगरम के निर्माण की आयोजना की है जिसका नमूना १६३७ मे छपा था ।

प्रांतीय जागृति के साथ साथ प्रांतीय साहित्यो की खोज प्रारम्भ हुई और उन की सूचिया प्रकाशित हुई । यहा पर हिंदी साहित्य की खोज की रिपोर्टों का उल्लेख करना अनुचित न होगा । १६०० से लेकर १६०६ तक तो वार्षिक रिपोर्टें, और १६०६ के पश्चात् त्रैवार्षिक रिपोर्टें निकली । इन का निर्माण श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, हीरालाल आदि महानुभावो द्वारा हुआ था ।

यह लेख ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन नवम्बर १९४२ की क्रम संख्या ७१ मे छप चुका है ।